कबीर और जायसी

लेखक

शिवमूर्ति शर्मा

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी)

प्रवक्ता हिन्दी विभाग

यूइङ्ग क्रिश्चियन कालेज

इलाहाबाद

प्रकाशक

वीना प्रकाशन

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण]

[मूल्य ५·५०

'प्राक्कथन'

पूरे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मध्यकाल का अपना विशिष्ट महत्व है। यह काल सभी दृष्टियों से चेतनासम्पन्न काल है। इस युग की हिन्दी कविता, धार्मिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक सभी प्रकार की चेतनाओं से मण्डित है। धर्म इस युग का सर्वाधिक विवादास्पद विषय रहा है। यह केवल व्यक्ति मात्र की अन्तःवृत्ति से सम्बन्धित न रहकर, बाह्य, समाज में कलह की वस्तु बन चुका था। विश्व के दो महान् धर्म-हिन्दूधर्म और इस्लाम-परस्पर द्वन्द्व में रत हो चुके थे। धर्म की इसी विपन्नावस्था में, मध्यकाल ने दो मनीषी एवं युगचेता कवियों को जन्म दिया। वे थे **कबीर और जायसी**। इन दोनों प्रबुद्ध कवियों ने परस्पर द्वन्द्व के लिए तत्पर धर्मानुयायियों को सच्ची राह दिखायी। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं दो मनीषी कवियों के, साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक ऐक्य के लिए, किये, गये प्रयासों का एकत्र आकलन किया गया है। दोनों कवियों की चिन्तनधारा एवं उनकी रचनाओं को एक ही मूल उद्देश्य की कड़ी के रूप में देखने का प्रयास किया गया है।

कबीर के अध्ययन को लेकर अब तक अनेकों प्रयास हो चुके हैं, परन्तु सर्वत्र पूर्वाग्रहग्रस्तता को ही प्रश्रय दिया गया है। कहीं कबीर को बहुत बड़ा हठयोगी, कहीं अद्वैत दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित तो कहीं उन्हें अक्खड़ उपदेशक मात्र स्वीकार किया गया है। परन्तु कबीर की कविता को किसी पूर्व निश्चित दृष्टिकोण से देखना उपयुक्त नहीं है। कबीर एक व्यावहारिक व्यक्ति थे। उन्होंने संसार को खुली आँखों से देखा था। समाज के विकार ग्रस्त अंगों को पहिचान लेने की, उनमें अभूतपूर्व क्षमता थी। अनुभूत तथ्य को स्पष्ट शब्दावली में कह डालना उनकी आदत थी। उनकी कविता, उनके हृदय का सच्चा उद्गार है। धर्म, दर्शन और योग से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं। सभी का खण्डन करना ही उन्हें अभीष्ट है, बदले में किसी भावना के मण्डन की प्रवृत्ति

उनमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। बस ! ये ही कुछ आधारभूत तथ्य हैं, जिनके आधार पर, यहाँ कबीर की कविता का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

जायसी का अध्ययन भी किसी प्रकार की पूर्वाग्रहग्रस्तता से रहित है। यहाँ उन्हें एक सच्चे भारतीयता के उपासक स्वच्छन्द कवि के रूप में देखा गया है। उनकी कविता में निहित 'प्रेम की पीर' की अभिव्यक्ति, यथा तथ्य रूप में प्रस्तुत की गयी है। न उन्हें रस का उद्भावक शास्त्रीय कवि माना गया है, न योग और दर्शन का वेत्ता ही। एक सच्चे लोक कवि के रूप में ही, उन्हें देखने का प्रयास किया गया है। अब ! दोनों ही कवियों का विवेचन किस कोटि का है, इसका निश्चय तो विज्ञ पाठक ही करेंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशन में, मेरे वरिष्ठ सहकर्मी, आदरणीय श्री राजकिशोर सिंह (वरिष्ठ-प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद) का बहुत बड़ा योग है। वे कबीर-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं अतः समय-समय पर उनकी बहुमूल्य सम्मतियों ने मेरा मार्ग प्रशस्त किया है। इसी सन्दर्भ में परम आदरणीय गुरु डा० माता बदल जायसवाल (रीडर, हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) तथा प्रो० पं० गोपीनाथ शर्मा (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद) का कृपा-योग भी उल्लेखनीय है। मेरे अन्य सहकर्मी डा० पद्माकर मिश्र (प्रवक्ता-संस्कृत-विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद) तथा श्री हरीशचन्द्र जायसवाल (प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद) का सहयोग भी अविस्मरणीय है। ये दोनों ही मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक के प्रकाशक, भार्गव बन्धु (रमेश, नरेश और सुरेश भार्गव) भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। अब समस्त कृतज्ञताओं के साथ पुस्तक विज्ञ पाठकों के हाथ समर्पित करते हुए मुझे अपार हर्ष है।

दिनांक
२४-२-७२

शिवमूर्ति शर्मा

विषयानुक्रमणिका

कबीर

जायसी

१

निर्गुण सन्त काव्य-धारा और कबीर

निर्गुण सन्त-मत—'सन्त' शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे महापुरुषों के लिए किया जाता रहा है जो पूर्णतः आत्मनिष्ठ होने के साथ ही साथ समाज में रहते हुए भी बिना किसी निजी स्वार्थ के लोक-कल्याण में दत्त-चित्त रहा करते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें ही 'साधु' और 'महात्मा' भी कहा जाता रहा है। 'सन्त' शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' शब्द से दी गयी है, जिसका तात्पर्य 'परमतत्व' है। 'सत' (परमतत्व) की प्राप्ति को ही अपनी साधना का परम-लक्ष्य बनाने के कारण इस कोटि के साधकों को 'सन्त' कहा गया होगा क्योंकि आगे चलकर यह शब्द 'ज्ञानेश्वर' जैसे इसी कोटि के साधकों के लिए व्यवहृत हुआ। इससे भी आगे नामदेव, कबीर, दादू आदि महात्माओं के लिए भी, विशेषण रूप में, इसी (सन्त) शब्द का व्यवहार किया गया। इन्हीं सन्तों द्वारा चलाया गया मत हिन्दी-साहित्य-जगत में 'सन्त मत' कहलाया। निर्गुण (साकार एवं विशेषता रहित) ब्रह्म की उपासना करने के कारण इन सन्तों के मत को 'निर्गुणमत', 'निर्गुण सम्प्रदाय', 'निर्गुणवाद' आदि नाम भी दिये गये हैं। ज्ञान पर विशेष बल देने के कारण पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन सन्तों की विचारधारा को 'ज्ञानाश्रयी धारा' भी कहा है। परन्तु सन्त मत की विशिष्टताओं को देखते हुए, ये, एक भी नाम उपयुक्त नहीं प्रतीत होते। सन्त साधकों ने न तो केवल निर्गुण की ही उपासना की है और न केवल ज्ञान को ही प्रश्रय दिया है, अपितु उन्होंने सगुण ईश्वर को भी मान्यता दी और भक्ति पर बल दिया। एक तरह से वे 'मध्यम मार्ग, का अनुसरण करने वाले थे। इसे ही उन्होंने 'सहज-साधना-मार्ग' भी कहा था। अतः इनके मत का 'निर्गुण' या 'ज्ञान' के आधार

पर नाम रखना ठीक नहीं है। इस धारा के चिन्तकों के लिए 'सन्त' विशेषण अत्यन्त उपयुक्त है। यह उनकी 'सहज-साधना' का भी, किसी प्रकार विरोध नही करता। अन्ततः उनके मत को 'सन्त मत' कहना ही उपयुक्त होगा।

हिन्दी में सन्त कवियों की परम्परा का उद्भव एवं विकास तथा उसके कवि—हिन्दी साहित्य में सन्त-काव्य-परम्परा का विकास वास्तविक रूप में 'कबीर' से होता है। परन्तु 'गुरु ग्रन्थ-साहब' में कुछ ऐसे पद मिलते हैं जो कबीर के पहले के सन्त कवियों द्वारा रचित बताये जाते है। आधुनिकतम खोजों के आधार पर सन्तकाव्य-परम्परा का विकास १२वीं सदी से सिद्ध होता है। 'गुरुग्रन्थ-साहब' में जयदेव नामधारी (ये जयदेव संस्कृत के प्रसिद्ध कवि तथा 'गीतगोविन्दम्' के रचयिता से भिन्न हैं) सन्त के पद मिलते हैं। इनका समय भी १२ वीं शदी है। इसी शदी के कुछ अन्य सन्त साधकों **महाराज सोमेश्वर** (११२७ ई०) तथा **चक्रधर महाराज** का भी उल्लेख मिलता है, यद्यपि ग्रन्थ साहब में इनका उल्लेख नहीं है। जयदेव के बाद, ग्रन्थ साहब में उल्लिखित, दूसरे सन्त 'नामदेव' हैं। नामदेव रचित हिन्दी भाषा के कुछ पद्य ग्रन्थ साहब में संग्रहीत भी हैं। इनके पदों में ईश्वर के निर्गुण रूप का व्यापक रूप से वर्णन है। आगे चलकर इस निर्गुण के साथ ही जो रस और प्रेम का सम्मिश्रण किया गया, वह इनके निर्गुण पदों में नहीं है। नामदेव के पद विशुद्ध रूप से निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले हैं। हिन्दी में सन्तमत का प्रारम्भ इन्हीं **नामदेव** (१२६७ ई०) से माना जाता है। इन्हीं के समकालीन एक त्रिलोचन (१२६७ ई०) नामक सन्त का भी उल्लेख मिलता है। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने नामदेव और त्रिलोचन का उल्लेख सन्त ज्ञानेश्वर के शिष्यों के रूप किया है। इनके बाद **'सन्त सदन'** या **'सधना'** तथा **सन्तबेनी** का उल्लेख मिलता है। 'कबीर' के पूर्ववर्ती ये सभी सन्त प्रायः महाराष्ट्र से सम्बन्धित हैं। सन्त साधना का साहित्यिक रूप भी महाराष्ट्र (पंढरपुर) से प्रारम्भ हुआ। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जिन हठ-योगी-नाथपंथी साधकों से सन्त-साधना ने पर्याप्त प्रेरणा ली वे उस समय भारत के पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी भागों में विशेष रूप से सक्रिय थे।

हिन्दी में सन्त साधना का चरम विकास रामानन्द और इनके शिष्यों से होता है। 'गुरुग्रन्थ साहब' में रामानन्द के दो पद मिलते हैं। इनमें एक तो 'निर्गुण' का प्रतिपादक माना जाता है और दूसरा हनुमानजी की स्तुति से सम्बन्धित है। रामानन्द के बाद कबीर के हाथों सन्त साधना अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। एक तरह से कहा जाय तो 'कबीर' में ही सन्त साधना का 'अथ' और उसकी 'इति' भी निहित है। मध्यकाल के रूढ़ि-जर्जर एवं अंधकार में भटकते हुए समाज में कबीर एक ज्योति के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने अपने सीधे-सादे परन्तु तीखे उपदेशों के माध्यम से धर्मान्ध भारतीय जनता की आँखें खोल दीं। परंपरापोषक भारतीय समाज बहुत दिनों तक कबीर के मूल्य को न आँक सका, परन्तु आज के साम्प्रदायिकताग्रस्त समाज ने कबीर जैसे सरल सन्त साधकों का मूल्य समझने के साथ ही, उन्हें श्रेष्ठता के पद पर भी आसीन किया है। कबीर ने चिन्तन की जिस परिपाटी का प्रारम्भ किया वह परवर्ती महापुरुषों के चिन्तन का आधार बन गयी। 'कबीर' जैसे सरल सन्त का व्यक्तित्व विविध रूपात्मक रहा। उनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का उद्‌घाटन करने के पहले तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत हो जाना उपयुक्त होगा।

कबीर और उनका युग—

राजनैतिक वातावरण—भारतीय इतिहास का पूर्व-मध्यकाल राजनैतिक दृष्टि से पूर्ण अंधकार का काल है। इतिहास के इस युग की राजनीति अन्धे धर्म की अँगुली पकड़ कर चलती रही। इसी काल में भारत को एक कट्टर एवं धर्मान्ध जाति की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ी। भारत में मुसलमान आक्रामक प्रारंभ से ही दो दृष्टियाँ लेकर आते रहे—एक तो धर्म-प्रचार और दूसरी लूट-खसोट। उनकी यही लोलुप दृष्टि १२ वीं शदी में उन्हें भारत का शासक ही बना बैठी। फिर क्या था—मनमाना धर्म-प्रचार और लूट-खसोट का बाजार गर्म हो उठा। भारत की हिन्दू जनता पर इस्लाम धर्मानुयायी शासक जितना कठोर से कठोर अत्याचार कर सकते थे, करते रहे। असहाय हिन्दू जनता और तो कुछ भी करने में समर्थ नहीं थी, हाँ मुसलमानों के प्रति दिन-प्रतिदिन उसकी घृणा-भावना तीव्र होती गयी। मुसलमान शासकों ने इस भावना को तलवार के जोर पर

दबाना चाहा पर तलवार की प्रत्येक चोट पर यह और बढ़ती ही गयी, घटी नहीं।

कबीर के प्रादुर्भाव के पहले का भारत हिन्दू विरोधी बर्बर खिलजी शासकों तथा सिरफिरे तुगलक शासकों के अत्याचारों से घायल हो चुका था। तैमूर लंग के आक्रमण ने उसकी रही सही चेतना को भी लुप्त कर दिया। आगे आने वाले सिकन्दर लोदी जैसे क्रूर शासक ने उसके अस्तित्व को मिटा देने का प्रयास किया। धर्मान्ध राजनीति का यह कुचक्र चलता रहा, भारतीय जनता पिसती रही। इतने लम्बे संघर्ष के बाद इस्लाम धर्मानुयायी भी थक से गये। धार्मिक जोश उन्हें अत्याचार की ओर प्रेरित करता, पर उनका मन समझौते की ओर अग्रसर होने को तत्पर दिखायी देने लगा। अब तक इस्लाम धर्मानुयायी आक्रामक न रहकर, भारत के निवासी बन चुके थे। अब वे यहाँ के हिन्दुओं से मिलकर रहना चाहते थे। पर उनका धार्मिक दम्भ, उन्हें पीछे खींच रहा था। ऐसी ही मनोवृत्ति के समय कबीर जैसे सन्त साधकों और कुछ मुसलमान सूफी फकीरों ने हिन्दुओं और इस्लाम मतावलंबियों के मन को एक-स्थान पर लाने का प्रयास किया। इसी आवश्यकता के वशीभूत रामानन्द ने अपने शिष्यों के रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को स्थान दिया। कबीर ने रामानन्द जैसे अपने महान् गुरु की परम्परा को आगे बढ़ाया। इस्लाम के बर्बर अत्याचारों से त्रस्त दोनों जातियों और धर्मों के लोग कबीर की विचारधारा से प्रभावित हुए। साम्प्र-दायिकता का विष धीरे-धीरे एकता का अमृत बनने लगा। कबीर ने बर्बर राज-नीति की परवाह न कर अपना अभियान प्रारम्भ रखा और वे साम्प्रदायिकता की भावना से ग्रस्त तत्कालीन भारत के मसीहा बन गये। कहा जाता है कि सिकन्दर लोदी ने उनपर तरह-तरह के अत्याचार किये परन्तु जनता के मन को घेरकर बैठे हुए कबीर किसी एक व्यक्ति के अत्याचार से कैसे घबरा उठते।

सामाजिक वातावरण—कबीर का युग सामाजिक दृष्टि से भी हीनता का युग था। इस देश में रहने वाली हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियाँ धार्मिक एवं व्यावहारिक आडम्बरों से युक्त होकर पतन के गर्त में जा रही थीं। हिन्दू समाज सभी ओर से निराश होकर अपनी सामाजिक जटिलताओं को बढ़ाता गया। जातिगत बन्धन कठोर होने लगे। हिन्दू समाज में उच्च समझी जाने

वाली ब्राह्मण जाति अपने ही समाज के अन्त्यजों (शूद्रों) से दूर-दूर रहने लगी। समाज में अनेकों कुप्रथाओं का प्रचलन हो गया। धर्मप्राण हिन्दू जनता को देवी देवताओं पर भी विश्वास न रह गया। सभी ओर से उनमें निराशा भरने लगी।

हिन्दू समाज की भाँति ही मुस्लिम समाज में भी बहुविवाह, झूठ, मक्कारी, धोखेबाजी जैसी अनेक बुराइयाँ आ गयीं। मुस्लिम-समाज में भी आडम्बर का बोलबाला हो गया। चारों ओर आचरणभ्रष्टता और प्रवंचकता नग्न नृत्य करने लगी।

दोनों जातियों की इसी आडम्बरपूर्ण स्थिति में सुधार लाने का प्रयास सन्त साधकों ने किया। कबीर ने अपनी ओजस्विनी वाणी के माध्यम से हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के बाह्याडम्बरों और ढकोसलों पर करारा आघात किया। उन्होंने एक सामान्य धर्म का प्रवर्तन किया—जिसका मूल ही मिथ्या-डम्बरों का विरोध, वर्णव्यवस्था की उपेक्षा तथा विलासिता से घृणा पर टिका था। कबीर ने अपनी कटूक्तियों के माध्यम से दोनों जातियों की सामाजिक कुरीतियों पर करारा प्रहार किया।

धार्मिक वातावरण—धार्मिक दृष्टि से भी कबीर का युग अस्तव्यस्तता का युग था। इस युग का हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न अखाड़ों में बँटा हुआ देखा जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में 'अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। इस युग का धर्म दो खेवे में बँट गया था। एक तो था आस्तिक धर्म और दूसरा था नास्तिक धर्म। कहीं-कहीं आस्तिक और नास्तिक दोनों धर्मों का मिला-जुला एक तीसरा रूप भी था। आस्तिक धर्म अद्वैत वेदान्त के सहारे कहीं विशिष्टद्वैतवाद कहीं शुद्धाद्वैतवाद, तो कहीं द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद जैसी विविध साम्प्रदायिक मान्यताओं में फँसकर, ईश्वर के सगुण रूपों की उपासना में लगा हुआ था। यह उपासना पद्धति केवल उच्चवर्गीय उपासना पद्धति थी। इसके विपरीत निम्नवर्ग के लोगों में बौद्धों की विकृत साधना के विविध रूप जैसे सिद्ध मत तथा नाथ मत आदि प्रचलित थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस युग में कोई एक मत ऐसा नहीं था जिसे सभी स्वीकार कर सकते। अलग-अलग खेमों में बँटा हुआ

हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म के आघात को भी नहीं रोक पा रहा था। उसे अपने विवादों से अवकाश ही कहाँ था जो वह किसी विदेशी धर्म का सामना करता।

इसी धार्मिक विश्रृङ्खलता की स्थिति में कबीर तथा उनके अनुयायी सन्त साधकों ने अपने सर्वथा नवीन मान्यताओं से युक्त धर्म की स्थापना की। इन सन्त साधकों ने अपने धर्म के अन्तर्गत सभी धर्मों और सम्प्रदायों की मान्यताओं को प्रश्रय दिया और अपने धर्म को 'सहज धर्म' की संज्ञा दी। यह एक ऐसा धर्म था जो सगुण-निर्गुण तथा एकेश्वरवादी···सभी मान्यताओं से युक्त था। इसमें न तो कहीं आडम्बर की भावना थी और न ही कहीं वितण्डावाद को प्रश्रय दिया गया था। यही कारण है कि सन्तों का सहज धर्म, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सभी का अपना धर्म बन गया। धार्मिक समन्वय का यह कार्य अधिकांश मात्रा में कबीर जैसे सन्त साधक के हाथों सम्पन्न हुआ। कबीर की वाणी ऐसी धारा के रूप में प्रवाहित हुई जो भिन्न-भिन्न दिशाओं से बहकर आयी हुई विचारधाराओं का समाहार करती हुई, जनमन अभिरामदायिनी बन गयी।

इस प्रकार विविध युगीन परिस्थितियों ने एक होकर, तत्कालीन समाज में 'कबीर' जैसे व्यक्तित्व की उत्पत्ति अनिवार्य बना दी। कबीर के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ने युग की माँगों की पूर्ति भी की। कबीर ने समस्त भारतीय व अभारतीय चिन्तनधाराओं को आत्मसात कर अपनी सहज अनुभूतियों के आधार पर जिस मानव मात्र के धर्म की स्थापना की वह स्वयं का उपमान स्वयं ही है। कबीर जिस युग में हुए वह परम्परागत जर्जरित रूढ़ियों का युग था। इनको तोड़े बिना समाज का हित हो ही नहीं सकता था। कबीर ने अपने व्यावहारिक ज्ञान के माध्यम से यह अच्छी तरह परख लिया कि बिना क्रान्ति-एवं परम्परा विद्रोह के समाज सुधार सम्भव नहीं। फलतः—**"कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी"**— उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था रूढ़िगत दार्शनिक मान्यताओं आदि को तोड़कर एक सर्वथा नवीन एवं सर्वजन ग्राह्य मान्यता का आविष्कार किया और यह मान्यता विरोधों से ग्रस्त तत्कालीन समाज के लिए अतीव शान्तिदायिनी सिद्ध हुई।

—०—

२

कबीर का जीवनवृत्त

विविध बहिर्साक्ष्यों और अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने कबीर की जन्मतिथि, उनके नाम, जन्म-स्थान, जाति, माता, पिता, गुरु, विद्याध्ययन, पारिवारिक जीवन, व्यवसाय, पर्यटन तथा उनकी मृत्यु-तिथि व मृत्यु-स्थान आदि का निर्धारण करने का प्रयास किया है। परन्तु प्रत्येक विषय पर विद्वानों में विवाद चला आ रहा है। भारतीय इतिहास, चाहे वह साहित्य का हो चाहे राजनीति का, विवादों से भरा हुआ है। इस देश के महापुरुषों, विशेषकर कवियों ने अपने स्वयं के विषय में बहुत कम लिखा है। जो कुछ संकेत इन महान् विभूतियों ने अपनी रचनाओं में दिये भी, वे उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द बुने गये किम्बदन्तियों के जाल में उलझ कर रह गये हैं। कबीर का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार की किम्बदन्तियों से घिरा हुआ है। अधिक विवाद में न पड़कर इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब तक के विद्वानों की निष्कर्ष रूप, धारणाओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

जन्मतिथि—अधिकतर विद्वानों ने कबीर को रामानन्द का शिष्य स्वीकार किया है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत रामानन्द की जन्मतिथि सं० १३८५ (सन् १३२८) मानते हैं। रामानन्द ने १०२ वर्ष की आयु पायी थी, अतः इनकी मृत्यु सं० १५०५ में मानी गई है। कबीर की जन्मतिथि इन्हीं दो तिथियों के बीच में होनी चाहिए। कबीर की जन्म-तिथि से सम्बन्धित जितने भी उल्लेख मिले हैं, सभी में 'कबीर चरितबोध' का उल्लेख सत्य के अधिक समीप लगता है। इसके अनुसार कबीर का जन्म सन् १३९८ ई० में हुआ था। यह तिथि अन्य ऐतिहासिक तथ्यों से भी मेल खाती है। अधिकतर विद्वानों ने

कबीर की इसी जन्मतिथि को एक दो वर्ष के हेरफेर के साथ स्वीकार कर लिया है। इस तिथि (सं० १४५५ या १३९८ ई०) से कबीर के रामानन्द का शिष्य होने में भी कोई अड़चन नहीं पड़ती।

नाम—'कबीर' के नाम को लेकर भी अनेको किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार कबीर का जन्म हाथ के अँगूठे से हुआ था। अतः उन्हें 'करवीर' कहा गया। यही शब्द बिगड़कर 'कबीर' हो गया। दूसरी किंवदन्ती के अनुसार कबीर के जन्म के बाद, नामकरण करते समय, जब काजी ने कुरान खोला तो सबसे पहले उन्हें 'कबीर' शब्द ही दिखलाई पड़ा, अतः उन्होंने बालक का यही नाम रख दिया। अरबी में 'कबीर' शब्द का अर्थ 'महान्' होता है। यह प्रायः ईश्वर के विशेषण रूप में प्रयुक्त होता था। हो सकता है, महानता के कारण ही इन्हें ईश्वर का विशेषणवाची नाम 'कबीर' दे दिया गया हो। 'कबीर' के जीवन को देखते हुए, उनका यह विशेषणवाची नाम उपयुक्त लगता है।

जन्म-स्थान—कबीर के जन्म-स्थान को लेकर पर्याप्त विवाद हुआ है। इनये जन्म-स्थान के रूप में तीन स्थानों के नाम आते हैं—(१) मगहर, (२) काशी, (३) आजमगढ़ जिले का बेलहरा गाँव। इन तीनों स्थानों में बेलहरा गाँव के लिये दिये गए तर्क अधिक शसक्त नहीं हैं, अतः विद्वानों ने इसे कबीर का जन्म-स्थान स्वीकार करने में असहमति प्रकट की है। अब रह जाते हैं दो स्थान—मगहर और काशी। मगहर को जन्म-स्थान स्वीकार करने वाले विद्वान् अपने मत की पुष्टि में 'कबीर' का ही एक दोहा उद्धृत करते हैं—

तोरे भरोसे मगहर बसिऔ, मेरे मन तन की तपन बुझाई।
पहले 'दरसन' मगहर पायो, पुनि काशी बसे आई॥

इस दोहे के 'दरसन' शब्द पर पर्याप्त विवाद है, यदि इसका अर्थ 'दिखायी पड़ना' या जन्म लेना माना जाये तो कबीर का जन्म मगहर में माना जा सकता है, परन्तु यदि 'दरसन' का अर्थ 'ईश्वर दर्शन' है, तो फिर कबीर वहाँ 'देव दर्शन' के लिये गये होंगे। डा० गोविन्द त्रिगुणायत इस दोहे के आधार पर कबीर का जन्मस्थान 'मगहर' ही स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत 'कबीर' की रचनाओं में बार-बार 'काशी' का उल्लेख हुआ है। इनके जन्म के विषय

में प्रचलित अलौकिक कथाएँ भी काशी से ही सम्बद्ध हैं। एक कथा के अनुसार "सत्यपुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा" अथवा 'पुरइन के पत्ते पर लेटा हुआ एक बालक नीरू नामक जुलाहे की स्त्री नीमा को काशी के निकट मिला।' इन कथाओं में यदि सत्य का कुछ भी अंश है तो कबीर का जन्मस्थान काशी में होना चाहिए। 'कबीर' बार-बार अपने को काशी का जुलाहा कहते हैं। उनके 'सगल जनम सिवपुरी गवाँइया' आदि कथन भी उन्हें काशी से सम्बद्ध बताते हैं। इन्हीं सब आधारों पर आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कबीर का जन्मस्थान भी उनके कर्मस्थान काशी को ही मानने के पक्ष में हैं। जब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित है कि कबीर अपने बाल्य-काल से काशी में ही रहे होंगे। जन्म उनका चाहे जहाँ कहीं भी हुआ हो। जहाँ तक मगहर के इनके जन्मस्थान होने का प्रश्न है, वह बहुत स्पष्ट नहीं है, हाँ मगहर उनका मृत्यु-स्थान अवश्य बताया गया है। कबीर इसका स्वयं ही उल्लेख करते हैं—

'मरती बार मगहर उठि आइआ'।
'मरनु भया मगहर को बासी'।

एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं—

'जउ तन कासी तजै कबीरा, रमइऐ कहा निहोरा॥

इन उल्लेखों के आधार पर स्पष्ट है कि मगहर कबीर का मृत्यु-स्थान है, जहाँ वे हठ करके गये थे। मगहर में उनकी कब्र भी बनी है, जिसे सम्भवतः उनके शिष्य बिजली खाँ ने बनवाया था।

जाति—कबीर ने स्वयं को 'काशी का जुलाहा' कहा है। अधिकतर विद्वानों ने इन्हें वयनजीवी (कपड़ा बुनकर जीविका चलाने वाली) जुलाहा जाति से ही सम्बद्ध माना है। परन्तु कबीर कहीं-कहीं अपनी जाति जुलाहे के साथ ही 'कोरी' भी बताते हैं जैसे—

जोलाहे घर अपना चीना, घट ही राम छिपाना।
कहै कबीर कारगह तोरी सूतै सूत मिलाये कोरी॥

ऐसे स्थलों पर 'कबीर' स्वयं ही विवाद खड़ा कर देते हैं। वे एक साथ ही 'जुलाहा' और 'कोरी' कैसे हो सकते हैं। जुलाहा मुसलमान होता है, 'कोरी'

हिन्दू। इस प्रश्न का समाधान करते हुए डा० बड़थ्वाल कहते हैं—'मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीनतया कोरी किन्तु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों के अनुयायी थे। उनके वंशवालों ने यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इस्लाम को स्वीकार कर लिया था फिर भी परम्परागत संस्कारों से उनका मानसिक सम्बन्ध नहीं छूटा था।' इस समस्या का समाधान डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने और भी विशद रूप में प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि कबीर बिहार व बंगाल के पूर्वी हिस्सों में रहने वाली जुगी जाति के थे। यह जाति न हिन्दू थी और न तो मुसलमान। इसका सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्मविहीन नाथपंथी योगियों से था। कबीर पर भी नाथपंथी योगियों का स्पष्ट प्रभाव है। कुल मिलाकर 'कबीर' की जाति का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद रहा है। फिर भी अधिकतर विद्वानों ने उन्हें काशी का 'जुलाहा' ही निश्चित किया है। कबीर से प्रभावित उनके हिन्दू अनुयायियों ने उन्हें हिन्दू सिद्ध करने के लिए ही विविध कथाओं का ताना बाना बुना होगा। कबीर ने अपनी जाति का उल्लेख स्थान-स्थान पर 'जुलाहा' के रूप में ही किया है। जहाँ तक उनके मुसलमान या हिन्दू होने का प्रश्न है, वे दोनों ही थे और दोनों ही नहीं थे। उनका व्यक्तित्व ही विलक्षण था। वे एक सन्त पुरुष थे और सभी धर्मों से परे थे। उनका व्यक्तित्व दोनों धर्मों को छूते हुए भी उनसे परे था। उन्हें चाहे जुलाहा कहिए चाहे 'कोरी' सभी कुछ ठीक है। कबीर तनने-बुनने का व्यवसाय करते थे, जो 'जुलाहा' और 'कोरी' दोनों का व्यवसाय था। 'जुलाहों' के बीच में कबीर जुलाहा थे, वही जब 'कोरियों' के बीच पहुँचते तब 'कोरी' बन जाते थे। अतः उनकी जाति पर विवाद करना व्यर्थ है। वे एक सन्त थे और सन्त का तो लक्षण ही है—

'निरबैरी, निह-कांमता साईं सेती नेह।
विषिया सूंन्यारा रहै, संतनि का संग एह।'

माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोग—कबीर के माता-पिता कौन थे इस विषय में भी पर्याप्त विवाद है। एक मत के अनुसार 'कबीर' एक ज्योति के रूप में उत्पन्न हुए थे। यह ज्योति काशी के लहर तालाब में पुरइन के पत्ते पर बालक रूप में अवतरित हुई। काशी के नीरू और नीमा नामक दम्पत्ति ने इस बालक का पालन पोषण किया। दूसरे मत के अनुसार कबीर एक विधवा

ब्राह्मणी की कोख से उत्पन्न हुए जो लज्जावश उन्हें लहर तालाब के पास रख गयी, उधर से गुजरते हुए नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति ने उनका पालन-पोषण किया। तीसरे मत के अनुसार 'कबीर' नीरू और नीमा के ही पुत्र थे।

इन तीनों मतों में एक तथ्य सामान्य रूप से विद्यमान है कि नीरू और नीमा ने कबीर का पालन-पोषण किया। अतः वे उनके माता-पिता हुए। आज के वैज्ञानिक युग में किसी की दैवी उत्पत्ति पर विश्वास करना नितांत असंभव है। इसके अतिरिक्त नीरू और नीमा को कबीर का वास्तविक माता-पिता सिद्ध कर पाना भी कठिन है। अतः यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र रहे होंगे।

माता-पिता के समान ही 'कबीर' के परिवार अर्थात् उनकी पत्नी, पुत्रों तथा पुत्रियों आदि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवाद है। एक मत के अनुसार कबीर एक त्यागी पुरुष थे, उनका गृहस्थी से कोई सम्बन्ध नहीं था—

'कबीर त्यागा ग्यान करि, कनक कामिनी दोइ ॥

परन्तु इसके विपरीत उनकी रचनाओं में अनेको स्थलों पर उनका गृहस्थ होना उल्लिखित है। वे दूसरों को भी गृहस्थी न छोड़ने का ही उपदेश देते थे। इनके विवाहित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। 'लोई' नाम की स्त्री को इनकी विवाहिता पत्नी बताया जाता है। कबीर के सन्तान भी थी इसका उल्लेख उन्हीं के एक पद में मिलता है। कबीर अपनी माता से बात-चीत करने के बीच अपनी स्त्री व पुत्र का भी कुछ परिचय देते हैं।

'मेरी बहुरीआ का धनीआ नाउ। ले राखिओ रामजनीआ नाउ ॥
इन्ह मुंडीअन मेरा घर धुँधरावा। बिटवहि राम रमऊआ लावा ॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडीअन मेरी जाति गँवाई ॥

कबीर की माँ को दुःख है कि उसके घर प्रायः आते रहने वाले संन्यासियों ने उसकी पुत्रवधू का नाम 'धनीआ' से 'रमजनीआ' रख दिया है और उसके पुत्र को भी राम का भक्त बना दिया है। कबीर साहब माँ को सान्त्वना देते हैं कि साधुओं ने मेरी जाति ही बदल डाली है अतः दुःख करने की कोई बात नहीं है।

कई अन्य स्थलों से सूचित होता है कि 'कबीर' की स्त्री उनसे संतुष्ट नहीं

रहती थी क्योंकि उन्होंने अपना व्यवसाय छोड़ राम की भक्ति में समय लगाना प्रारम्भ कर दिया था। इसी स्थल पर कबीर की सन्तानों का भी उल्लेख है। कबीर की अकर्मण्यता और उनके पास आने वाले साधुओं के सत्कार से ऊब कर लोई कहती है:—

'लरकी लरिकन खैवौ नाहिं। मुंडिया अनुदिन धाये जाहिं॥

'कबीर' के पुत्र का नाम 'कमाल' और पुत्री का नाम 'कमाली' बताया जाता है। 'निहाल' और 'निहाली' को भी इनकी सन्तान बताया गया है, परन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

संक्षेप में 'कबीर' एक पक्के गृहस्थ सन्त थे। परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी साधु-संगति बढ़ती गयी, परिवार के लोग भी उनसे निराश होते गये। कबीर ने इस स्थिति को सुधारने की चेष्टा भी की थी, पर तब तक तो वे साधु-संगति के अतीव लोभी हो चुके थे अतः उनका पारिवारिक जीवन अशान्तिमय रहा। उनका पुत्र कमाल उनके समान सन्त न होकर व्यवसायी निकला इसका उन्हें बड़ा दुःख था।

गुरु—कबीर के गुरु कौन थे? इस सम्बन्ध में भी तीन मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार कबीर के कोई लौकिक गुरु थे ही नहीं वे। उस अदृश्य परम-पिता परमेश्वर को ही अपना गुरु मानते थे। परन्तु इस मत में कोई तत्व नहीं है। कबीर की महत्ता प्रतिपादित करने की दृष्टि से उनके शिष्यों ने यह भ्रान्त-मत प्रचलित कर दिया होगा।

दूसरे मत के अनुसार कबीर शेखतकी के मुरीद थे। इस मत को मानने वाले विद्वान् गुलाम सरवर के 'खजीन अत्तुल असफिया' ग्रन्थ को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसमें दी गयी कबीर की जन्म-तिथि ही अत्यन्त भ्रामक है तो अन्य विवरणों पर कितना विश्वास किया जा सकता है। इन प्रमाणों के आधार पर शेखतकी कबीर के गुरु तो नहीं प्रतीत होते, हाँ उनके प्रतिद्वन्द्वी अवश्य लगते हैं। हो सकता है शेखतकी के शिष्यों ने कबीर को नीचा दिखाने के लिए कबीर को शेखतकी का मुरीद कह दिया हो। इसके अतिरिक्त कबीर के सरल सन्तोपासक व्यक्तित्व को देखते हुए यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि एक सन्त होने के नाते उन्होंने शेखतकी को सम्मान दिया होगा। मात्र इतनी सी बात के आधार पर

शेखतकी को कबीर का गुरु सिद्ध कर देना, तथ्य न होकर अतिरंजना मात्र होगी।

तीसरे मत के अनुसार कबीर रामानन्द के शिष्य थे। यह मत तर्कसंगत होने के साथ ही अधिकतर विद्वानों को मान्य भी है। कबीर और रामानन्द समकालीन थे। रामानन्द की ख्याति से प्रभावित होकर यदि कबीर ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया तो इसमें कुछ भी असंभाव्य नहीं लगता। यद्यपि कबीर ने अपनी रचनाओं में गुरु के रूप में रामानन्द का नाम कहीं भी नहीं लिया फिर भी, मात्र नामोल्लेख न करने से कबीर को रामानन्द के शिष्यत्व से वंचित नहीं किया जा सकता। प्रचलित किंवदन्तियाँ भी कबीर को रामानन्द का शिष्य सिद्ध करती हैं। सगुण और निर्गुण का एकत्र समन्वय कर चलने वाले कबीर निश्चय ही रामानन्द जैसे दोनों ही विचारधाराओं को प्रश्रय देने वाले महापुरुष के शिष्य रहे होंगे। इसके अतिरिक्त एक प्रमाण यह भी है कि कबीर जीवन भर काशी में रहे; रामानन्द का कार्यस्थल भी काशी ही रहा अतः कबीर का उनका शिष्य होना स्वाभाविक ही था। कबीर एक स्थान पर अपने गुरु का उल्लेख करते हुए कहते भी हैं—

कबीर गुरु बसे बनारसी, सिष समदा तीर।
बिसार्‌या नहीं बीसरे, जे गुण होय शरीर।

इन सभी तथ्यों के आधार पर यह तथ्य स्वतः सिद्ध है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे।

विद्याध्ययन एवं पर्यटन—कबीर पढ़े लिखे न होकर एक बहुश्रुत सन्त थे। इस बात को वे स्वयं ही स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं—

'विद्यान परउ वाद नहि लेखउ'

'मसि कागद' उन्होंने छुआ ही नहीं था। पुस्तक में लिखी बात पर विश्वास न कर वे 'आँखों की देखी' पर विश्वास करने वाले सन्त थे। पुस्तकों में तो झूठे वादों के अतिरिक्त कुछ नहीं। कबीर ने जितना भी हो सका अक्षरज्ञान की निन्दा की। वे संसार भर की पोथियों को पढ़ने में विश्वास न कर केवल प्रिय (ईश्वर) के नाम का एक ही अक्षर जानना चाहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि इसी में मुक्ति होगी पुस्तकों के विवाद में पड़ने से नहीं।

पुस्तक ज्ञान की इस प्रकार निन्दा करने वाले कबीर स्थान-स्थान पर घूम कर साधुसंगति में ज्ञान-लाभ किया करते थे। वे देश में स्थान-स्थान पर केवल साधुसंगति के लिए ही घूमे। उनके इस भ्रमण का उद्देश्य तीर्थव्रत न होकर केवल अपने सदृश राम के भक्तों से सम्पर्क स्थापित करना था। वे कहते भी हैं-

कबीर बन-बन मैं फिरा, कारणि अपणै रांम।
राम सरीखे जन मिले तिन सारे सब कांम॥

जीवन के प्रारम्भिक काल में उनकी ये यात्राएँ ज्ञानार्जन हेतु होती रहीं। बाद में इनका उद्देश्य कबीर-मत का प्रचार रहा। इन्होंने झूँसी मानिकपुर तथा जौनपुर के ऊजी नामक स्थान की यात्रा की। मानिकपुर में ये शेखतकी जैसे सूफी सन्त के पास गये। जौनपुर और झूँसी की यात्रा का कारण भी सन्त समागम ही रहा। रतनपुर एवं जगन्नाथपुरी एवं मथुरा, वृन्दावन, बांधवगढ़ आदि स्थानों पर भी इनके जाने के प्रमाण मिलते हैं। नर्मदा के तटवर्ती भरौंच नामक स्थान से १३ मील दूर शुक्रतीर्थ में भी इनके जाने का उल्लेख मिलता है। वहाँ पर स्थित एक बरगद का वृक्ष 'कबीर-वट' के नाम से विख्यात है। इस प्रकार कबीर की यात्राओं से संबंधित और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं। उनकी इन यात्राओं ने उन्हें लोकमानस को अपनी आँखों से देखने का अवसर दिया। यही कारण है कि कबीर साक्षर न होते हुये भी व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर लोकजीवन की समस्याओं में गहरे पैठ जाते हैं। स्थान-स्थान पर घूमकर ज्ञानार्जन करने और उपदेश देने के कारण ही 'कबीर' जन-सामान्य के प्रिय बन गये थे। देश के कोने-कोने में उनके शिष्य हुए, जिन्होंने आगे चलकर इनकी मानव कल्याण कारिणी वाणी का प्रसार अत्यन्त मनोयोग के साथ किया। कबीर के इस विस्तृत भ्रमण और उनके सदाशयतापूर्ण विचारों के प्रसार ने सामान्य जन-मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया और कबीर का 'सहज-मत' उन्हें सच्चे पंथ के रूप में दिखायी पड़ने लगा। देश के कोने-कोने में भ्रमण करने के कारण कबीर की चित्तवृत्ति भी विशद होती गयी, अनेक जातियों और विचारधाराओं के लोगों से मिलकर उन्होंने सभी के घोलमेल से बनी अपनी मान्यताओं का प्रचार एवं प्रसार किया और धार्मिक वितण्डावाद से पिसती हुई उनके युग की मानवता ने

कबीर की सहज एवं यथार्थवादी विचारधारा को अत्यन्त हर्ष के साथ स्वीकार किया।

कबीर की मृत्यु :—जीवन-पर्यन्त घूम-घूमकर जन-कल्याणार्थ उपदेश देते हुए कबीर ने सं० १५७५ में 'मगहर' में अपनी जीवनलीला समाप्त की। इनके मृत्यु-स्थान को लेकर भी पर्याप्त विवाद है। जीवन भर काशी जैसे पवित्र स्थान में रहने वाले कबीर मगहर जैसे अपवित्र स्थान पर मरने क्यों गये? इसका उत्तर कबीर का अटपटा व्यक्तित्व स्वयं है—वे कहते हैं—

'जउ तन कासी तजहि कबीरा, रमइऐ कहा निहोरा'।

कहते हैं—'मगहर मरै तो गदहा होय'-परन्तु कबीर को इसकी चिन्ता ही नहीं है—

'किआ कासी किआ मगहर, ऊखरु राम हृदै जब होई॥

मृत्यु के समय कबीर मगहर गये थे, इस बात का उल्लेख स्वयं उन्होंने ही किया है—

सकल जनम सिवपुरी गवाइया।
मरती बार मगहर उठि धाइआ।
बहुत बरस तप कीआ कासी।
मरन भाइआ मगहर को बासी।

मगहर बस्ती जिले का एक गाँव है। यहीं पर कबीर की मृत्यु हुई थी। यहाँ पर इनकी कब्र और समाधि दोनों ही मिलती हैं। इनकी मृत्यु के बाद हिन्दुओं ने इनकी समाधि बनवायी और मुसलमानों ने कब्र।

—❀—

३

कबीर की रचनाएँ

यह पहले ही बताया जा चुका है कि कबीर साक्षर नहीं थे। अतः उनके द्वारा रची गयी किसी कृति की कल्पना ही अपने आप में भ्रामक है। वे एक सन्त पुरुष थे, घूम-घूम कर ज्ञानार्जन करना और उपदेश देना ही उनका दैनिक कार्य था। उनके द्वारा कही गयी कविताओं का संकलन उनके शिष्य, बाद में, कर लेते थे। इनकी जितनी भीं रचनाएँ आज तक उपलब्ध हुई हैं-सब इसी प्रकार संकलित की गयी हैं। इनकी सभी रचनाएँ फुटकर पदों, साखियों तथा अन्य प्रकार की कविताओं के संग्रह मात्र हैं। इन फुटकर पदों व अन्य पदों में भी कितना अंश कबीर का कहा हुआ है और कितना अंश किसी अन्य का इस बात का निर्णय करपाना अत्यंत दुरूह कार्य है। मौखिक रूप में गेय होने के कारण ही, कबीर के पदों के जोड़ पर अन्यानेक सन्तों की रचनाएँ चल-पड़ी हैं। इन सभी में अन्तिम पंक्ति 'कहत कबीर सुनो भइ साधो' निश्चित सी रहती है। ऐसे सभी पदों को कबीर की रचना कह देना तर्क संगत नहीं होगा। कबीर के नाम से प्रचलित ऐसी कविताओं के अम्बार में से कबीर की मूल कविताओं को ढूढ़ निकालना एक दुष्कर कार्य होने के साथ ही सर्वथा असंभव कार्य भी है। सुविधा के लिए कबीर,के नाम पर प्रचलित रचनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है- (१)कबीर की मूल रचनाएँ (२) विस्तृत कबीर पंथी रचनाएँ। प्रथम वर्ग की रचनाओं को कबीर की 'बानी' के रुप में ग्रहण किया जा सकता है। द्वितीय वर्ग की रचनाओं में कबीर के नाम पर प्रचलित कर दी गयी कबीर पंथी साधुओं की रचनाओं को लिया जा सकता है। इस वर्ग की रचनाएँ विशेषतया भाषा की दृष्टि से कबीर के बहुत बाद की हैं। इनमें कबीर

की बानियों का मूल रूप लगभग तिरोहित हो गया है। अत; यहाँ प्रथम वर्ग की रचनाओंका उल्लेख ही अभीष्ट है। इस वर्ग की रचनाएँ कबीर, के शिष्यों तथा आगे के सुधी विद्वानों द्वारा संकलित की गयी हैं। इनमें कबीर की बानियों का मूल भी निहित है। अब तक प्रकाश में आये हुए कबीर की रचनाओं के संकलनों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बीजक—ऐसी प्रसिद्धि है कि कबीर के शिष्य धर्मदास ने सर्वप्रथम १५२१ विक्रमी में इनकी रचनाओं का एक संकलन बीजक नाम से किया था। परन्तु इस संकलन को कबीर की रचनाओं का सर्व प्राचीन संकलन स्वीकार करने में विद्वानो को कई आपत्तियाँ हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का अभिमत-द्रष्टव्य है–"......बीजक का जो अधिक से अधिक प्रामाणिक पाठ समझा जाता है, उसको ध्यान पूर्वक देखने से उक्त संग्रह की प्राचीनता में संदेह होने लगता है। इसमें संगृहीत कुछ रचनाओं का कबीर साहब के परवर्ती कवियों द्वारा निर्मित किया जाना भी स्पष्ट प्रकट होता है और ग्रन्थ की भाषा इसे 'गुरुग्रन्थ साहब' जैसे अन्य ऐसे संग्रहों से पीछे की कृति मानने के लिए, हमें बाध्य करती है। इस कारण संभव है कि उक्त ग्रन्थ कबीर साहब के देहान्त के बहुत पीछे संगृहीत किया गया हो और हो सकता है उसका संग्रह विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के कभी मध्यकाल में हुआ हो, जब तक उनकी रचनाओं के रूप में बहुत हेर-फेर हो चुका था और जब कदाचित बहुत कुछ 'गुरुग्रन्थ साहब' के आदर्श पर ही उसे बनाने की आवश्यकता भी पड़ी थी।" इस प्रकार आचार्य चतुर्वेदी बीजक को कबीर की रचनाओं का सर्वप्रथम हुआ संकलन न स्वीकार करते हुए उसे गुरुग्रन्थ- साहब के ही आदर्श पर संकलित कबीर के बहुत बाद का ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु इतना तो उन्हों ने भी स्वीकार ही किया है कि बीजक के कुछ अंश प्रामाणिक हैं: भले ही उनकी भाषा बाद की हो। आगे होने वाले अन्य संकलनों में भी बीजक, की प्रामाणिकता स्वीकार की गयी है, अतः इसे कबीर की कुछ बानियों के संकलन ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसमें संकलित पद कबीर की मान्यताओं के पर्याप्त निकट भी हैं।

गुरु ग्रन्थ साहब—सिक्ख धर्म के मान्य ग्रन्थ 'गुरु ग्रंथ साहब' व आदि

ग्रंथ में अनेक सिक्ख गुरुओं की रचनाओं के साथ ही कुछ सन्त कवियों की रचनाएँ भी संकलित की गयी हैं। इसमें कबीर के लगभग सवा दो सौ पद तथा ढाई सौ साखियाँ व सलोक संगृहीत हैं। ये पद और 'सलोक' भाषा और मूलभाव दोनों ही दृष्टियों से कबीर की रचना माने जा सकते हैं। परन्तु इनमें भी पर्याप्त प्रक्षेप हैं। गुरु अर्जुन देव ने इस ग्रंथ का संकलन सं० १६६१ में किया था तब से लेकर आज तक इस ग्रंथ में प्रक्षेप नहीं हुए हैं; जितने प्रक्षेप हैं भी वे अर्जुन देव के संकलन से पहले ही प्रचलित हो गये रहे होंगे। प्रक्षेपों और अन्य कवियों की रचनाओं के घोलमेल से युक्त होते हुए भी गुरुग्रंथ साहब में संकलित अधिकांश पद और 'सलोक' 'कबीर' की रचनाओं के रूप में निर्विवाद रूप से स्वीकार किये जा सकते हैं।

कबीर ग्रन्थावली–कबीर की रचनाओं के प्रामाणिक संकलन के रूप में कबीर ग्रन्थावली का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। डा० श्याम सुन्दर दास ने इसका संकलन दो हस्त लिखित प्रतियों के आधार पर किया था जिसका समय क्रमशः सं० १५६१ तथा सम्वत् १५८१ है। इन प्रतियों में समय का पर्याप्त अन्तराल होते हुए भी दोनों में पर्याप्त समानता है। अब तक कबीर की रचनाओं के जितने भी संकलन प्रकाश में आये हैं सभी में कबीर ग्रंथावली को अधिकतर विद्वानों ने प्रामाणिक स्वीकार किया है।

इन कुछ प्रामाणिक संग्रहों के बाद तो 'कबीर' के रचना संग्रहों की बाढ़ सी आ गयी। 'वेलवेडियर प्रेस' प्रयाग से 'कबीर साहब का साखी संग्रह' 'कबीर साहब की शब्दावली' प्रकाशित हुए। पर इन दोनों संग्रहों की भाषा नवीन होने के साथ ही इनके मूलपाठ भी प्रक्षेपों से युक्त हैं। इसी प्रकार शान्ति निकेतन से 'कबीर' तथा बम्बई से 'सत्यकबीर की साखी' आदि संकलन प्रकाशित हुए।

इस प्रकार कबीर की रचनाओं से सम्बन्धित पर्याप्त ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं। इनमें कितने अंश प्रामाणिक हैं और कितने अप्रामाणिक यह तथ्य आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। 'कबीर' के अनुयायियों ने उनके नाम पर रचनाओं का जो अम्बार लगा दिया है उसके बीच कबीर की मूलबानी होते हुए भी खो सी गयी है। कबीर यदि स्वयं कुछ लिखते तब तो उनकी रचनाओं

का स्पष्ट रूप समक्ष आता। उनके जीवन काल से ही उनकी बानियों के संकलन उनके शिष्य व अनुयायी करने लगे थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया, कबीर साहब के नाम पर की गयी रचनाओं का आकार भी बढ़ने लगा और बढ़ते-बढ़ते यह—**'सहस छानबे और छब लाखा। जुग परमान रमैनी भाखा।'** तक पहुँचने लगा। कबीर की रचनाओं के सम्बन्ध में विद्वानों ने भी अनेकों अटकलें लगायी हैं। विल्सन साहब ने कबीर की रचनाओं की संख्या ८ बतायी। वेस्कट साहब ने इसे बयासी पहुँचा दिया। मिश्र बन्धुओं ने कबीर के ७५ ग्रंथों की सूची दी। रामदास गौड़ ७१ तथा वेंकेटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'कबीर सागर' कृति कबीर के ४० ग्रंथों का उल्लेख करती है। डा० रामकुमार वर्मा कबीर के ६१ ग्रंथ बताते हैं। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के खोज विवरणों में तो यह संख्या १२० तक पहुँच गयी है। परन्तु ये सभी रचनायें कबीर के नाम से मिलती भले ही हों ये 'कबीर' की रचनाएँ निश्चित ही नहीं हैं। ऐसी रचनाएँ कबीर पंथी साहित्य के अंतर्गत गिनी जानी चाहिए।

कबीर की रचनाओं के रूप—जिन रचनाओं को कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ माना गया है उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) साखी। या सलोक (२) सबद (३) रमैनी। 'साखी' संस्कृत के साक्षी शब्द का विकृत रूप है जिसका अर्थ होता है वह व्यक्ति जिसने किसी घटना को अपनी आंखों से देखा हो। कबीर ने भी अपनी 'साखियों' में आँखों की देखी बात ही कहा है। इनके दोहे और सोरठे 'साखी' कहलाते हैं। 'सबद' का तात्पर्य है 'बानी' 'ब्रचन' या 'उपदेश'। कबीर के पदों को 'सबद' कहा जाता है। ये 'सबद' भजनों के रूप में गेय रचनाएँ हैं। कबीर की रमैनियां दोहा और चौपाई में लिखी हुई कबीर पंथियों के नित्य-पाठ की बस्तु हैं। ग्रंथ साहब में ये बावन अखरी तथा बीजक में ज्ञान चौंतीसा के रूप में मिलती हैं। थिती तथा 'वार' जैसी रचनाएँ भी इसी कोटि की हैं।

—❀—

४

कबीर की विचारधारा

महात्मा कबीर अज्ञान के अन्धकार से ग्रस्त तत्कालीन समाज में एक प्रकाश पुंज की भाँति उदित हुए। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न था। वे एक साथ ही योगी, दार्शनिक समाज सुधारक, भक्त एवं कवि सभी कुछ थे। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता तो यही थी कि वे किसी भी धर्म या विधारधारा के न होते हुए भी सभी के थे। पिछले पृष्ठों में 'कबीर' के जीवन वृत्त पर विस्तार से विचार किया गया है वहाँ भी उनके व्यक्तित्व की यही विलक्षणता दिखायी पड़ती है। हिन्दू उन्हें हिन्दू कह सकता है, मुसलमान उन्हें मुसलमान। योगियों के लिए वे परम योगी हैं, भक्तों के लिए भक्त शिरोमणि। सारांश रूप में वे सभी जातियों व धर्मों के महापुरुष हैं। सभी मतमतान्तरों में प्रवेश करते हुए भी वे अछूते बने रहकर अपने एक सर्वथा मौलिक धर्म मानव-धर्म की स्थापना कर सके। अब देखना यह है कि वे कौन सी पद्धतियाँ हैं, जिनका अनुसरण कर कबीर ने अपने विलक्षण व्यक्तित्व का निर्माण किया।

अध्ययन की सुविधा के लिए कबीर की विचारधारा को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) दार्शनिक विचार धारा।
(२) धार्मिक विचार धारा।
(३) सामाजिक विचार धारा।

यद्यपि कबीर के उन्मुक्त व्यक्तित्व का अध्ययन गतानुगतिक सिद्धांतों के आधार पर करना उपयुक्त नहीं है, फिर भी कबीर की मान्यताओं से अवगत होने के लिए उनके मत की कुछ स्थूल बातों का उल्लेख आवश्यक है।

(१) दार्शनिक विचारधारा—

'कबीर' परम्परा प्रचलित विविध दार्शनिक मत-मतांतरों के सूक्ष्म अध्येता नहीं थे। उनका दार्शनिक चिन्तन कुछ तो अपने व्यावहारिक ज्ञान और बहुत कुछ उनकी अपनी बहुश्रुतता पर आधारित है। कबीर जिस युग में हुए उसके पहले भारत में अनेकों दार्शनिक चिन्तन धाराओं का विकास हो चुका था। विशेषतया तीन प्रकार के दार्शनिक चिन्तनों का बोल-बाला था—हिन्दुओं के अद्वैतवाद, इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा बौद्ध धर्म की विकृत सिद्ध और नाथ योगियों की दार्शनिक चिन्तन धारा। इन चिन्तन धाराओं की अधिक गहराई में न उतरकर कबीर ने सभी की मान्यताओं को प्रश्रय देते हुए अपने मत का प्रचार किया। 'कबीर' की ईश्वर कल्पना हिन्दुओं के अद्वैतवाद, इस्लाम के एकेश्व वाद तथा बौद्धों के शून्य निरंजन तीनों का मिला-जुला रूप है। प्रकारांतर से कबीर ने इन सभी चिन्तनधाराओं की तत्वभूत बातों को ग्रहण कर, उन्हें अत्यंत सरल पद्धति से सामान्य जनता के बीच प्रसारित किया। कबीर का दर्शन सैद्धांतिक कम व्यावहारिक अधिक बन गया। अपने दार्शनिक मतों के स्पष्टीकरण में भी कबीर 'आखिन की देखी' को ही प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं। कबीर के दार्शनिक चिन्तन के तत्वों का संक्षिप्त विवेचना नीचे किया जा रहा है।

(२) कबीर का परमतत्व

'कबीर' का परमतत्व सम्बन्धी अध्ययन वेद, कतेब तथा अन्य दार्शनिक ग्रंथों की मान्यताओं पर आधारित न होकर उनकी स्वानुभूति पर आधारित है। उस परमतत्व के ज्ञान के लिए उन्हें न तो कहीं दौड़ धूप लगानी पड़ी और न ही किसी दार्शनिक मतवाद का सहारा लेना पड़ा, बल्कि मन ही मन विचार करते-करते उसका ज्ञान हो गया—

'करत विचार मन ही मन उपजी,
ना कहीं गया न आया।'

इस प्रकार आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाला कबीर का परमतत्व सामूहिक व साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत अनुभूति से ही सम्बद्ध है। इस परमतत्व की अनुभूति सभी धर्मों और सम्प्रदाओं को समान रूप से हो सकती है। कबीर

का परमात्मा घट-घट व्यापी है वह हिन्दू तुर्क, गरीब अमीर तथा ब्राह्मण एवं शूद्र में समान रूप से निवास करता है। परमात्मा सभी के भीतर की निजी वस्तु है।

परमतत्व का स्वरूप—कबीर का परम तत्व अनभूत, अविगत, अगम व अकलप है। वह गूंगे की मिठाई है जिसका स्वाद मन ही मन अनुभूत तो होता है, पर कहा नहीं जा सकता—

अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई ॥

वह 'त्रिभुवन राइ' है। उसकी सीमा का आर-पार नहीं है। कबीर उसका अनुभव करते हुए भी उसके बारे में कुछ कह ही नहीं पाते। उसकी प्राप्ति होते ही व्यक्ति का अस्तित्व वर्फ की भाँति पिघलकर पानी बन जाता है—

'पाणी ही तैं हिमभया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया अब कछु कह्या न जाइ ॥,

वह अलख और अरूप परमतत्व पहिचाना कैसे जाये! न उसके मुंह है, न माथा है, न वह सुन्दर है न कुरूप है वह पुष्प की सुगन्धि से भी पतला तत्व है—

जाकै मुह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप वासथैं पातरा, ऐसा तत्व अनूप ॥

निर्गुण—कबीर ने अपने सत्यरूप परमतत्व को 'गुनअतीत, 'निरगुन, और निराकार बतलाया। उसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—" वह अलख निरंजन है, जिसे कोई लख नहीं सकता, वह निरभै व निराकार है-वह न शून्य है, न स्थूल है, उसकी कोई रूप-रेखा नहीं, वह न दृश्य है न अदृश्य है, उसे न तो गुप्त ही कह सकते हैं और न उसे प्रकट कह कर पुकार सकते हैं।"

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई।
सुंनि असूथल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहि पेखा ॥

उस परमात्मा की गति ही निराली है, न उसका कोई नाम है और न ही कोई ठिकाना उसमें कोई गुण या विशेषता भी नहीं है जिसके आधार पर उसे कोई नाम दिया जा सके। यही कारण है कि कबीर उसे अनेकों नाम देते

देखे जाते हैं। वे उसे तत, परमतत, अनूपतत, निजतत, आतम, आप, आपन आदि अनेकों शब्दों से अभिहित करते हैं। सार, सबद, अनहद, अंतरधुनि निजपद, परमपद, चौथापद, अभैपद, सहज, सुनि, सति, ग्यान, अनंत, अमृत, उन्मन गगन, ज्योति, सीव आदि शब्दों से भी वे परमात्मा की ही सूचना देते हैं। अनेकों जगह वे अपने परमतत्व को ब्रह्म भी कहते हैं जो अद्वैत ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अनेकों नामों की सूची देते हुए भी कबीर संतुष्ट नहीं होते। मन में उदभासित ज्योति को प्रकट करने के लिए वे तरह-तरह की कल्पनाओं और रूपकों का सहारा लेते हैं परन्तु लाख प्रयत्न करके भी उसे स्पष्ट नहीं कर पाते।

कबीर ने अपने परमतत्व को राम भी कहा है। परन्तु उनके राम सगुण राम न होकर निर्गुण ब्रह्म ही हैं। वे अयोध्या के राजा एवं दशरथ के पुत्र न होकर त्रिलोक के स्वामी हैं। कबीर स्वयं ही कहते हैं—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥

उस अलख अरूप और निरंजन परमतत्व के स्मरण के लिए कोई न कोई आधार तो उन्हें बनाना ही था फलतः उन्होंने प्रचलित राम नाम को ही अपने जप का आधार बना लिया। इनके राम निर्गुण ही हैं सगुण नहीं। इस नाम की कल्पना कबीर ने सगुण और निर्गुण के विवाद को मिटाने की दृष्टि से की होगी। कबीर ने प्रत्येक मन में रमने वाले परम प्रकाश को ही राम कहा। इस राम नाम के पीछे न कोई कथा ही है और न तो उसका कोई रूप है वह सहजभाव से ही मन में उत्पन्न होता है—

कहै कबीर यहु कथा अकथ है कहता कही न जाई।
सहज भाइ जिंहि ऊपजै ते रमि रहे समाई॥

एक स्थान पर कबीर उस परमतत्व को रामजलु, कह कर संबोधित करते हैं—

अब मोहि जलतु राम जल पाइआ।
राम उदकि तनु जलत बुझाइआ॥

इस प्रकार कबीर की परमतत्व संबंधी कल्पना किसी सम्प्रदाय विशेष की मान्यता पर आधारित न होकर सभी सम्प्रदायों एवं मतमतान्तरों को

संतुष्ट करने वाली है। उनका 'भीतर की वस्तु' कहलाने वाला परमतत्व एक साथ ही, वैष्णवो, बौद्धों, शैवों एवं इस्मामभतावलम्बियों की अपनी 'भीतर की वस्तु' है। कबीर का ईश्वर व्यक्तिगत अनुभूति की वस्तु है। इसका संबंध न तो किसी जाति से है और न किसी धर्म से। परम्परागत धर्मों और मान्यताओं में ईश्वर से संबंधित जितने भी मत प्रचलित थे। सभी का समाहार कबीर ने अपने परमतत्व के अन्तर्गत कर लिया। उनका परमतत्व एक ओर तो अलख और अरूप है परन्तु दूसरी ओर वह अपने ही अनुरूप सृष्टि की रचना में भी दत्तचित्त होता है। विश्व के जितने भी प्रपंच हैं सब उसी की सृष्टि हैं। वह सृष्टि कर्त्ता, पालन कर्त्ता और संहार कर्त्ता सभी कुछ है वे कहते हैं –

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले, जो चित्रवत लेहि बिचार॥

इस प्रकार कबीर को परमतत्व कल्पना अत्यन्त विराट है। यही कारण है कि इनकी विचारधारा विविध विरोधी विचारधाराओं को अपने में आत्मसात करने में समर्थ हुई। कबीर ने अपने परमतत्व की कल्पना में किसी भी मत या वाद की मान्यता को परे नहीं रखा।

इस धारणा को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षिति मोहन सेन ने ठीक ही लिखा है–"कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्व-ग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, इसलिए वह ग्रहणशील हैं वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ कर रखा है।" उनकी यह भावना उनके ही शब्दों में द्रष्टव्य है–

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर का स्वामी घट-घट रहा समाई॥

कबीर का आत्म तत्व या जीव—कबीर ने जीवात्मा को परमात्मा से अलग कर नहीं देखा। कबीर का सारा जीवन ही आत्म-विचार व आत्म-साधना में बीता था। आत्मा को विकसित कर परमात्मा से मिला देना ही उनका परम उद्देश्य रहा। उनका दृढ़ मन्तव्य है कि जीवात्मा उस ब्रह्मतत्व का ही एक अंश है। इस रूप में सारी सृष्टि ही परमात्मा के अंश से युक्त है। उन्होंने हरि में ही पिंड और पिंड (शरीर) में ही हरि की स्थिति स्वीकार की—

हरि महि तनु है, तनु महि हरि है सरब निरंतर सोई ॥

शरीर के भीतर निवास करने वाला जीवात्मा भी ब्रह्म के समान ही जातिगत एवं उपाधिगत विशेषताओं से रहित है। यह न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है न रंक है, न ब्राह्मण है न बढ़ई है, न तो तपस्वी है, और न शेख ही है—

ना इहु मानुस न इहु देउ। ना इहु जती कहावै सेउ।
ना इह जोगी ना अवधूता। ना इहु माइ न काहू पूता ॥

यह जीव तो उसी राम (ब्रह्म) का अंश है। यह उसी प्रकार अमिट है जिस प्रकार कागज पर से स्याही का अंश नहीं मिटा करता। इस प्रकार कबीर का आत्मतत्व परमात्मतत्व की भाँति ही अजर, अमर, एवं उपाधियों तथा विशेषताओं से रहित है। यही आत्मतत्व जब कर्मों के भ्रम (करम-भरम) में पड़ता है, तब उसका परब्रह्म से भेद हो जाता है और वह भटकता हुआ, भाँति-भाँति के सांसारिक कष्टों को झेलता है। ज्ञानी जब विविध कर्मों से निरत होकर, आत्मतत्व को पहिचानने का प्रयास करता है, तभी उसे परमात्मा का सामीप्यलाभ भी प्राप्त होता है।

कबीर इसी आत्मतत्व को सारे संसार में परिव्याप्त मानते हैं। यही आत्मतत्व विश्वात्मा भी कहलाता है। आत्मा और विश्वात्मा मूलतः एक ही हैं। शरीर बद्ध हो जाने पर आत्मा विश्वात्मा से अलग-दिखायी देने लगता है। कबीर इसी तथ्य का स्पष्टीकरण एक रहस्यादी उक्ति के माध्यम से करते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल-जलहिं समाना यह तत कथ्यो गियानी ॥

उपनिषदों में आत्मा के प्राप्ता और प्राप्तव्य, दो रूपों का विवरण मिलता है। इन्हीं को क्रमशः ज्ञाता और ज्ञातव्य तथा द्रष्टा और दृश्य भी कहा गया है। इन दोनों में जैसे ही तादात्म्य स्थापित होता है, परम शिव (परमानन्द) स्वतः उद्भासित होने लगता है। कबीर ने इन दोनों प्रकार की आत्माओं का निरूपण 'सुरति' और 'निरति' दो नामों से किया है। वे कहते हैं—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार ।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भु दुवार ।।

कबीर ने कई स्थानों पर आत्मतत्व के लिए प्राण शब्द का भी व्यवहार किया है । यद्यपि प्राण शब्द वायु वाची है, फिर भी लोक में उसका 'जीव' अर्थ रूढ़ हो गया है ।

उपनिषदों में 'जीवात्मा' के रूप की भी कल्पना की गयी है । कठोपनिषद् में इसे पुरुष-शरीर में स्थित अंगुष्ठ परिमाणी (अंगूठे के आकार का) बताया गया है । कबीर ने भी जीवात्मा के रूप की कल्पना की, वे उसे 'दीपक की ज्योति' के रूप का बताते हैं—

मंदिर मांहि झपूकती दीवा कै सी ज्योति ।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति ।

'हंस' शब्द से भी वे जीवात्मा की ओर ही संकेत करते देखे जाते हैं । उपनिषदों के समान ही कबीर भी 'आत्मा' को 'स्वयं प्रकाश स्वरूप' मानते हैं । 'स्वयं प्रकाश स्वरूप' आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाशित रहता है । योगी अपनी अंत-वृ त्तियों को केन्द्रित कर, ब्रह्मरन्ध्र में इस प्रकाश-ज्योति का दर्शन करता है । 'कबीर' आत्मतत्व के इस रूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कौतिक दीठा देह बिन रवि ससि विना उजास ।
साहिब सैवा मांहि है बेपरवाही दास ।।

इस प्रकारकबीर का आत्मचिन्तन, परमात्म-चिन्तन के समान ही सूक्ष्म है । कबीर के आत्म-चिन्तन की विशेषताओं का निरूपण करते हुए, डा० गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं–"कबीर का आत्म-चिन्तन भी तर्क मूलक न होकर स्वानु-भूति मूलक ही है, उन्होने आत्मतत्व का वर्णन भी अधिकतर उपनिषदों के ढंग पर किया है । उपनिषदों के अतिरिक्त उनके आत्म-वर्णन पर शंकर के मायावाद की भी छाया दिखलायी पड़ती है । वे आत्मतत्व की अद्वैतता और एकता में पूर्ण विश्वास करते हैं । वेदान्तियों के समान ही वे आत्मा को स्वयं–प्रकाश और ज्ञान रूप मानते हैं । कबीर ने आत्मा और ब्रह्म में अंशांशि भाव भी स्वीकार किया है । यह अंशाशि भाव भेदाभेदी न होकर पूर्ण अद्वैती ही है । यही कारण है कि उन्होंने उपनिषदों के प्रतिबिम्बवाद को विशेष रूप से अपनाया है ।"

कबीर का मायातत्व—शंकराचार्य ने 'माया' को ब्रह्म की आच्छादक शक्ति मानकर उसे सारे संसार को भ्रम में डालने वाले तत्व के रूप में व्याख्यायित किया है। कबीर ने भी 'माया' को सारे संसार को भ्रम में डालने वाली मानकर उसकी कठोर शब्दों में निन्दा की है। उनकी दृष्टि में माया एक विश्व-मोहिनी सुन्दरी के रूप में है जो सभी जीवों को प्रलोभन देकर ठगती और फँसाती रहती है। देवता, मनुष्य, योगी तथा चर-अचर सभी जीव इसके प्रभाव से ग्रस्त हैं। वह जल, स्थल और आकाश सर्वत्र व्याप्त है। इसके बन्धन डालने के ढंग भी विचित्र हैं, यह कभी माता-पिता, कभी स्त्री-पुरुष, कभी आदर-मान तथा कभी जप-तप व योग के रूपों में अनेकों प्रकार के बन्धन डालती है। त्रिलोक में जितनी भी वस्तुएँ हैं माया ने सभी को बेध रखा है। कबीर कहते हैं—

जल महिं मीन माया के बेधे, दीपक पतंग माया के छेदे।
काम माया कुंजर के व्याये, भुअंगम मृग माया महि खाये।
माया ऐसी मोहनी भाई, जेते जीय तेते ढहकाई।
पाखी मृग माया महि राते, साकर माखी अधिक संतापे।
तुरे अष्ट माया महि मेला, सिध चौरासी माया महि खेला।
छिय जती माया के बन्दा, नवे नाथ, सूरज औ चन्दा।
तपे रिखीसर माया महि सूता, माया महि काल और पंच दूता।
स्वान स्यार माया महि राया, वनर चीते अरुसिधाता।
माजार गाडर अरु लूबरा, विरख मूल माया महि परा।
माया अन्तर भीने देव, सागर इन्द्रा अरु धरतेव ॥

पानी में मछली को माया ने ही आबद्ध कर लिया है, दीपक की ओर पतंगा माया की ही प्रेरणा से आकृष्ट होता है, हाथी को काम-वासना देना माया का ही काम है। पृथ्वी पर चलने वाले जीव कुत्ते, सियार, बन्दर चीते, बिल्ली, लोमड़ी और भेड़ आदि माया में ही रँगे हैं। माया ऐसी मोहनी है ही कि सभी जीव उसके भुलावे में आ जाते हैं। यहाँ तक कि छः यती, नौ नाथ व चौरासी सिद्ध तक माया के प्रपंच से बच नहीं पाये। देवगण, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा सागर सभी इसके प्रभाव से ग्रस्त हैं। अखिल त्रिलोक में इसका मनमाना

राज्य चलता है। इसका त्याग करने के लिए कोई कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, यह पिण्ड नहीं छोड़ती।

कबीर ने माया का वर्णन सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में किया है। सगुण रूप में वह ब्रह्म की सहयोगिनी है। इसे ही वे 'रमइया की दुलहिन' अर्थात् ब्रह्म की आच्छादक शक्ति मान एक विश्वमोहिनी सुन्दरी के रूप में चित्रित करते हैं। ऐसी माया, इतनी मीठी होती है कि कोई उसका परित्याग कर ही नहीं पाता और इस प्रकार अज्ञान से ग्रस्त जीव को यह भून-भून कर खाती रहती है। कबीर कहते हैं—

मीठी-मीठी माया तजी नहि जाई।
अज्ञानी पुरुष को भोलि-भोलि खाई॥

निर्गुण रूप में माया ब्रह्म की अदृश्य शक्ति है जिसे न कोई देख ही पाता है और न उसके प्रभाव को समझ ही पाता है। ऐसी ही अनिर्वचनीय वेलि रूपी माया का वर्णन कबीर इस प्रकार करते हैं—

आगणि वेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध।
ससा सींग की धूधहड़ी, रमै बाँझ का पूत।

आकाश की वेलि, बिना व्याई हुई गाय का दूध, खरगोश की सींग तथा बन्ध्या-पुत्र की क्रीड़ा जैसे असत्- अदृश्य एवं अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार माया का निर्गुण रूप भी असत्-अदृश्य एवं अनिर्वचनीय है। इसे ही कबीर ने मिथ्या माया कहकर, इससे सावधान रहने की चेतावनी दी है। इसकी छलनाएँ यह स्वयं ही समझ सकती है—जैसे नट अपने खेल को स्वयं ही समझता है। दूसरे लोग उसके रहस्य को जान ही नहीं पाते। इसका ज्ञान केवल ज्ञानी ही कर सकते हैं। कबीर इस मिथ्या माया की लीला का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नट बहुरूप खेले सब जाने, कला करे गुन ठाकुर माने।
औ खेले सबही घट माही, दूसर के लेखे कछु नाहीं।
जाके गुन सोइ पै जानै, और को जानै पार अयाने।

यह अलख माया अपने झूठे बन्धनों एवं आकर्षणों में सभी को बाँधती है। इसके विस्तार का विशद वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

माया मोह धन जोबना, इन बन्धे सब लोय।
झूठै झूठ बियापिया कबीर अलख न लखई कोय॥
झूठनि झूठ साँच करि जाना, झूठनि में सब साँच भुलाना।
धंध बंध कहि बहुतेरा, क्रम विवर्जित रहे न मेरा।
षट दरशन आश्रमषट कीन्हा, षटरस खाटि काम रस-लीन्हा।

इस झूठी माया की गति भी विचित्र है। यह ऐसी बेलि है जो काटने से तो लहलही होती है, पर गुणों (ज्ञान) से सींचने पर सूख जाती है—

जो काटो तो डहडही, सींचो तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल को कुछ गुन कहा न जाय।

ब्रह्म की शक्ति के रूप में कबीर की माया त्रिगुणात्मक भी है—

'तिरगुन फाँस लिए कर डोलै' इस रूप में वह अपने पाश में सभी जीवों को बाँधती चलती है। सत्–रज, और तम तीनों ही गुण उसमें समाहित हैं—

रजगुण, तमगुण सतगुण कहिये यह सब तेरी माया।

यहाँ कबीर की माया 'सांख्य' की प्रकृति का प्रतिरूप है। वह प्रसव-धर्मिणी भी है। सारी सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई है—

एक विमानी रचा विमान। सब अपान सो आपे जान।
सत रज तम ये कीन्हीं माया वारिसानि विस्तार उपाया।

सृष्टि के पंचतत्त्वों की रचना भी माया ही करती है।

माया भेद बुद्धिरूपा भी है। एकत्व में अनेकत्व तथा 'मोर-तोर' की भावना उत्पन्न करना, उसका प्रमुख कार्य है। 'मोर-तोर' की भेदभावना ही व्यक्ति की अशान्ति का कारण बनती है। यह मेरा है, यह तेरा है की भावना ही संसार के दुखों की जड़ है। इसी कारण, ऐसे दुःख की जन्मदायिकी माया को कबीर पिशाचिनी, डाकिनी, डायन, नकटी आदि कहकर, उसकी कठोर निन्दा करते हैं। भेद बुद्धि रूपा यह माया प्रत्येक व्यक्ति के 'मन' पर बलात् अधिकार प्राप्त कर, उसे अपना स्थायी निवास बना लेती है। व्यक्ति के मन में रहती हुई, यह नित्य उसे डसती रहती है। कबीर कहते हैं––

'इक डायन मेरे मन बसै,
नित उठ मेरे जिय को डसै।

मन में माया के प्रवेश करते ही उसके सभी संगी साथी मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर आदि भी आ जाते हैं और सभी मिलकर मन को चारों ओर से घेर लेते हैं। माया एक जादूगरनी है, कनक और कामिनी उसके पास की सबसे आकर्षक वस्तुएँ हैं, जिनकी ओर मन बड़ी तेजी से लपकता है। परन्तु इस तरह उसे शान्ति न मिलकर दुःख ही मिलता है। इन आकर्षक वस्तुओं की ओर लपकते ही, माया के पाँच सशक्त बेटे-काम, क्रोध, मोह, मद व मत्सर उस पर झपट पड़ते हैं। इनके चंगुल में फँसा हुआ मन छटपटाने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। माया के पाश में बँधा हुआ जीव ईश्वर की भक्ति से भी विमुख हो जाता है। माया के बन्धन अत्यंत कठोर होते हैं। यह इतनी स्वेच्छाचारिणी एवं स्वतन्त्र है, कि वेश्या के समान बाजार में बैठकर सभी जीवों को आकर्षित करती है और कोई भी प्रतिबन्ध नहीं मानती। परन्तु कबीर स्वयं इस दुष्टा के इन्द्रजाल से दूर हैं।

अस्तु! कबीर ने 'भरम-करम' की मूलभूत ब्रह्म की आच्छादिका शक्ति माया की अत्यन्त स्पष्ट एवं कड़े शब्दों में निन्दा की है। इनका माया का विविध रूप वर्णन अत्यंत आकर्षक एवं मनोहारी भी है। माया के विविध रूपों की कल्पना तो अत्यंत सजीव एवं अतीव मनोहारी है। कहीं वह 'रमइया की दुलहिन' के रूप में अपने सौन्दर्य के प्रभाव से सारे जगत रूपी बाजार को लूटने वाली है, तो कहीं ठगिनी के रूप में सभी देवताओं ऋषियों और मुनियों तथा मनुष्यों को ठगने वाली है। उसके साथ-साथ चलने वाली जमात का तो कहना ही क्या, जिधर ही देखिये उसके साथी-संगी अपना प्रभुत्व जमाये पड़े हैं। कबीर ने ऐसी जादूगरनी से सावधान रहने की, बार-बार चेतावनी दी है। माया की निन्दा में जितने भी कटु से कटु शब्दों का व्यवहार हो सकता था, कबीर ने खुलकर किया। इनका माया-तत्व विवेचन, इनकी अपनी मौलिकता से युक्त होते हुए भी, परम्परागत दार्शनिक विचारधाराओं से पूर्ण साम्य रखता है। इनका माया वर्णन अद्वैत की माया तथा सांख्य की प्रकृति से साम्य भले ही

रखता हो, कबीर ने कहीं भी उसे सिद्धान्तों की लीक पर चलकर, वर्णित नहीं किया। कबीर दर्शन के सिद्धान्तों के पण्डित तो थे नहीं, उन्होंने जो कुछ अपनी आँखों से देखा, उसे व्यक्त कर दिया। वे बहुश्रुत थे, अतः उन्होंने जो कुछ भी 'माया' के बारे में सुना था, अपनी स्वयं की अनुभूतियों में लपेटकर, व्यक्त कर दिया। अतः पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों के आधार पर इनके माया-तत्व का विवेचन उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

संसार—कबीर ने संसार को नश्वर मान इससे दूर ही रहने का उपदेश दिया है। नश्वर संसार की उपमा वे 'सेमल के फूल' धूँआ के धौरहर, कुहरे के धुन्ध तथा 'कागद की पुड़िया' जैसी वस्तुओं से देते हैं। यह संसार जीव को विविध कर्म बन्धनों में उलझाये रखता है। संसार एक बाजार (हाट) की भाँति है, जैसे बाजार में व्यापारी वाणिज्य में रत रहते हैं, उसी प्रकार संसार में जीव विविध कर्मों में रत दिखाई पड़ता है। संसार अनेक विध वासनाओं का केन्द्र है। ये वासनाएँ व्यक्ति के मन को बलात् अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। इनके आकर्षण में फँसा हुआ मन भाँति-भाँति के कष्ट उठाता रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर, कबीर ने एक स्थान पर संसार को 'विषधर नाग' के समान बताया है—

संसार भवंगम डसिले काया,
अरु दुख दारुन व्यापै तेरी माया ॥

एक रहस्यवादी के रूप में कबीर संसार को जीवात्मा रूपी स्त्री का 'नैहर' कहते हैं। जैसे 'स्त्री' 'नैहर' में थोड़े दिन रहकर अन्ततः 'पीव के घर' जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी संसार में बहुत अल्प समय तक निवास कर, अन्ततः ब्रह्मपद में स्थायी निवास प्राप्त करती है। इस संसार में आत्मा चार दिन के 'पाहुने' के रूप में आती है। कबीर कहते हैं—

भयो रे मन पाँहुनड़ो दिन चारि।

आजिक काल्हिक माँहि चलैगो, लेकिन हाथ सँवारि।
सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह।
यहु संसार इसौ रे प्राणी, जैसो धुंवरि मेह।

तन धन जीबन अँजुरी को पानी, जात न लागै बार।
सैंवल के फूलनि पर फूल्यौ, गरव्यौ कहा गँवार।
खोटी खाटै खरा न लीया कछू न जानी साटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयौ आयौ थौ इति हाटि ।।

यहाँ कबीर ने संसार के प्रति अपने विस्तृत दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। उनकी दृष्टि में संसार माया का प्रपंच मात्र है, अतः वे इसकी आसक्तियों से दूर ही रहने को सलाह देते हैं। कबीर की संसार सम्बन्धी मान्यताएँ अद्वैत की सृष्टि सम्बन्धी मान्यताओं से मिलती जुलती हैं। यद्यपि उन्होंने इसका चित्रण सैद्धान्तिक आधारों पर नहीं किया, फिर भी इनके बिखरे हुए कथनों में अद्वैत की मान्यताएँ स्पष्ट ही उद्भासित होती हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन न करते हुए भी कबीर ने अपने व्यावहारिक ज्ञान के सहारे इन सभी धारणाओं की अभिव्यक्ति की।

कबीर के आध्यात्मिक चिन्तन का स्वरूप---कबीर के आध्यात्मिक चिन्तन को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— (१) **चिन्तन पक्ष** (२) **साधना पक्ष**। इनके आध्यात्मिक चिन्तन पक्ष पर पीछे अत्यंत विस्तार पूर्वक विचार किया जा चुका है। इसके साधना-पक्ष की विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी। परन्तु कबीर के साधना-पक्ष की चर्चा करने के पहले उनके चर्चित चिन्तन पक्ष पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

कबीर के दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप— कबीर ने यद्यपि कहीं भी दार्शनिक बनने का प्रयास नहीं किया, फिर भी उनकी कविता में दार्शनिक तत्वों का विवेचन हो ही गया है। ऐसी स्थिति में उनका दार्शनिक चिन्तन किस कोटि का है, इस पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। बहुत प्राचीन काल से भारत में ब्रह्म, जीव, माया, जगत आदि के चिन्तन से सम्बन्धित अनेकों मतवाद प्रचलित रहे हैं। इनमें कबीर ने किस मत व वाद का अनुसरण किया यहाँ यही देखना है। ब्रह्मचिन्तन को लेकर भारत में १८ प्रकार के अद्वैतवादों की चर्चा हुई है। परन्तु ये सभी वाद मूल रूप से अद्वैतवेदान्त पर ही आधारित हैं। ब्रह्म-चिन्तन का पूरा भवन ही अद्वैत वेदान्त की दृढ़ नीव पर टिका है। कबीर का चिन्तन भी इसी विशाल भवन का एक कोना समझा जा सकता है। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने कबीर के दार्शनिक चिन्तन को शङ्कराचार्य के अद्वैत-वेदान्त पर आधारित माना है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देने की है—कबीर ने अद्वैत वेदान्त

के अधिकतर तत्वों का विवेचन अवश्य किया, पर वे सर्वथा स्वच्छन्द ही रहे हैं। वेदान्त के शब्दों का व्यवहार वे भले ही करते हों, लेकिन उनकी गूढ़ता से वे सदैव दूर ही रहे हैं। सहज-स्वाभाविक ढंग से वे जितने भी तत्वों का प्रत्याख्यान कर सके, करते हैं; वेदों के श्रुति प्रामाण्यवाद आदि से वे दूर ही रहे है। इतना सब होते हुए भी कबीर का दार्शनिक चिन्तन अद्वैत वेदान्त के पर्याप्त निकट है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत, कबीर के चिन्तन में अद्वैत चिन्तन का प्रभाव परिलक्षित करते हुए लिखते हैं—

'(१) उन्हें अद्वैत वेदान्त में वर्णित ब्रह्म का अव्यक्त और निर्गुण स्वरूप मान्य है। सगुण भावना भी उन्हें वहीं तक मान्य है, जहाँ तक उसका सम्बन्ध अव्यक्त ब्रह्म से है।

(२) वे आत्मा और परमात्मा को वेदान्त के ढंग पर अभिन्न मानते है।

(३) उनका अंशांशिभाव भी पूर्ण अद्वैती है।

(४) कबीर आत्मा को स्वयं-प्रकाश रूप मानते हैं, वे आत्मा और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं मानते हैं।

(५) कबीर जगत्-सत्ता को मिथ्या और स्वप्नवत् मानते हैं।

(६) कबीर ब्रह्म को जगत् का उत्पादक और निमित्त कारण मानते हैं।

(७) कबीर को अद्वैतवेदान्त के प्रधान सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद, विवर्तवाद अहिंसावाद विशेष रूप से मान्य है।

(८) कबीर की मुक्ति संबंधी धारणा पूर्ण अद्वैती है।"

डा० त्रिगुणायत की ये स्थापनाएँ बहुत कुछ सत्य हैं परन्तु कबीर जैसे उन्मुक्त चिन्तक को किसी एक मतवाद के घेरे में ला पाना एक असम्भव कार्य है। कबीर ऐसे दार्शनिक चिन्तक हैं, जिनमें एक ओर तो अद्वैतवादी मान्यताओं का बोल बाला है, दूसरी ओर विशिष्टाद्वैतवादी भक्ति के सिद्धान्तों का। इसके साथ ही सूफियों का एकेश्वरवाद भी अपना स्थान रखता है। अध्यात्म का साधनापक्ष तो पूर्णतया सिद्धों और नाथों की योग पद्धित पर आधारित है। ऐसी स्थिति में कबीर को किसी निश्चित मतवाद को मानने वाला सिद्ध कर पाना सरल कार्य नहीं है। कबीर का दार्शनिक चिन्तन परम्परा पर आधारित होते हुए भी मौलिकता से युक्त है। कबीर के समय तक दार्शनिक चिन्तन की जितनी भी सरणियाँ थीं, उन्होंने सभी का अनुगमन किया। इस दृष्टि से कबीर का दार्शनिक चिन्तन प्राचीनता से मण्डित होते हुए भी नवीनता से दूर नहीं है। उनका दार्शनिक चिन्तन सर्वग्रासी है। हिन्दी साहित्य परम्परा का अन्य कोई कवि कबीर के समान मौलिक एवं स्वच्छन्द दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सका।

कबीर के अध्यात्म-चिन्तन का साधना-पक्ष

कबीर के आध्यात्मिक चिन्तन का साधना पक्ष नाथपंथी योगियों की हठयोग प्रक्रिया पर आधारित है। अतः इनके इस पक्ष पर विचार करने के पहले 'नाथ-पंथी योगियों के हठयोग सिद्धान्त से परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा। नाथ-पंथियों का 'हठयोग' भारत में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित योग-साधना का ही एक रूप है। अत्यंत संक्षेप में भारतीय योग साधना का इतिहास नीचे दिया जा रहा है।

'योग' शब्द संस्कृत की 'युज' धातु से बना है जिसका तात्पर्य है जोड़ना या तादात्म्य स्थापित करना। चित्तवृत्तियों का निरोध कर आत्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना योग कहलाता है। भारत में यह विद्या ऋग्वेद-काल से ही प्रचलित रही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा उप-निषदों में योग का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। योग का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रन्य 'पतंजलि का योगसूत्र है। इस ग्रन्थ में चित्तवृत्ति निरोधरूपिणी साधना के आठ प्रकारों का निर्देश किया गया है, वे हैं—यम; नियम; आसन; प्राणायाम; प्रत्याहार; धारणा; ध्यान और समाधि। इन्हें ही अष्टाङ्गयोग भी कहा गया है। गीता में १८ प्रकार के योगों की चर्चा की गयी है। परन्तु साधना के क्षेत्र में अष्टाङ्गयोग को ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है। कबीर ने भी अपनी योग साधना में अष्टाङ्गयोग पर बल दिया है। अतः इसे स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा।

अष्टाङ्गयोग:—

अष्टाङ्गयोग के आठ अंगों का क्रमशः एवं समुचित रूप से पालन करता हुआ योगी परमावस्था की प्राप्ति करता है। इसके प्रथम अंग यम के अंतर्गत योगी अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (दूसरे की वस्तु न ग्रहण करना) द्वारा चित्तवृत्ति को संयमित करता है। इसके बाद वह क्रमशः शरीर और मन को शुद्ध करने वाले नियमों का पालन करता है। नियम भी पाँच ही हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर शरणागति। इन दो अङ्गों का पालन कर चित्तवृत्ति एवं शरीर को शुद्ध कर योगी आसनों की

साधना करता है। चित्तवृत्ति को शुद्धकर आराम से ध्यान लगाकर बैठना ही आसन कहलाता है। निश्चल आसनबन्धता का अभ्यास कर योगी प्राणायाम' (स्वासों के संयमन) का अभ्यास करता है। 'प्राणायाम' की अवस्था में श्वासों और प्रश्वासों को रोककर चित्तवृत्ति को एकाग्र किया जाता है। कुछ विशेष प्रकार के प्राणायामों को ही 'मुद्रा' भी कहा गया है। हठयोग प्रक्रिया में प्राणायामों का विशेष महत्व है। प्राणायाम की सफल साधना के बाद प्रत्याहार की स्थिति आती है। इस स्थिति में इन्द्रियां विषयों एवं भोगों से संबंध विच्छेद कर चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाती हैं। इन्द्रियों के चित्तवृत्ति में केन्द्रित हो जाने के बाद योगी 'धारणा नामक योगाङ्ग की साधना करता है; इस स्थिति में वह अपनी चित्तवृत्ति को शरीर के बाहर या भीतर किसी एक स्थान पर केन्द्रित करता है। जिस वस्तु पर योगी अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित करता है उस वस्तु और चित्तवृत्ति की एकतानता ही ध्यान की अवस्था कहलाती है। इसी ध्यान की अवस्था में जब चित्तवृत्ति केवल ध्येय के स्वरूप पर केन्द्रित हो जाती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य सा हो जाता है; तब समाधि की अवस्था प्राप्त होती हैं। यही अष्टाङ्गयोग की परमावस्था है। इस अवस्था में पहुँची हुई योगी की चित्तवृत्ति सहजावस्था में पहुँच परमपद की अधिकारिणी बनती है। अष्टाङ्गयोग की ये सारी विधियाँ हठयोगियों ने भी ग्रहण की हैं। कबीर की योग साधना में तो इनका पग-पग पर व्यवहार किया गया है।

अष्टाङ्गयोग के अतिरिक्त कबीर की योग साधना पर लययोग, मंत्रयोग तथा राजयोग का भी प्रभाव है। हठयोग की चर्चा करने के पहले योग के इन प्रकारों का संक्षिप्त विवरण अनुपयुक्त न होगा।

लययोग—

हठ योग प्रदीपिका के अनुसार ध्येय (परमात्मा) में वासनाओं का लय कर देना ही लय योग है—'लयो विषय विस्मृतिः।' भौहों के बीच में स्थित 'शिव स्थान' पर मन को केन्द्रित करने पर ही लय की अवस्था की प्राप्ति होती है। मन की यह लयावस्था नाद के श्रवण और प्रकाश के दर्शन से सम्भव होती है। कबीर का 'शब्द सुरतियोग' लय योग का ही नामान्तर माना जा सकता है।

मन्त्रयोग—मंत्रों या किसी मंत्र विशेष के सहारे चित्तवृत्ति का निरोध मंत्र योग कहलाता है। यह सभी योग क्रियाओं से सरल माना गया है। इसमें नाम-जप साधना पर विशेष बल दिया जाता है। नामजप को प्रश्रय देने के कारण यह भक्ति के भी अधिक निकट है। इसी मंत्रयोग के सहारे योगी 'सुषुम्ना' का दर्शन प्राप्त करता है और सुषुम्ना का दर्शन प्राप्त होते ही उसे तत्वानुभूति होने लगती है। कबीर की योग-साधना में मंत्रयोग का भी यत्र-तत्र, व्यवहार हुआ है। उनका नामजप तो निश्चित ही इस योगमार्ग के 'प्रणव जप' (ॐ शब्द के जाप) से सम्बद्ध है।

राजयोग—

राजयोग सभी योग साधनाओं की अन्तिम परिणति है। अन्य सभी योग साधनाएँ इसकी पृष्ठ भूमि मात्र कही गयी हैं। हठयोग प्रदीपिका में इसके लिए कई अन्य पर्यायवाची शब्द भी व्यवहृत हुए हैं—जैसे—'समाधि उन्मनी मनोन्मनी, अमरत्व, अमनस्क, अद्वैतता, निरालंब, निरंजन, जीवन मुक्ति, सहजा, तुर्या आदि। यह योग साधना हठ योग-साधना की समाप्ति के बाद प्रारम्भ होती है। इस योग साधना में पहुँचा हुआ व्यक्ति परमात्म स्वरूप हो जाता है। राजयोग की स्थिति ज्ञान और भक्ति के समन्वय की स्थिति है। कबीर की योग-साधना में इस स्थिति का भी विवेचन किया गया है। उनके योग-मार्ग में ज्ञान और भक्ति के समन्वय की भावना तो स्पष्ट ही राजयोग-साधना के अनुकरण की सूचक है।

कबीर की हठयोग—साधना—

कबीर ने नाथ पंथी योगियों से हठयोग से सम्बन्धित अनेकों क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। वे इन क्रियाओं की चर्चा अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर करते देखे जाते हैं। कबीर की कविता के ऐसे स्थलों को समझने के लिए नाथ-पंथी हठयोगियों की साधना से परिचित होना परम आवश्यक है। नीचे हठ-योगी की सैद्धांतिक प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

नाथपंथी योगियों का हठयोग—

हठयोग का तात्पर्य—'बलपूर्वक शारीरिक शक्तियों का विकास कर परम

शक्ति से सायुज्य प्राप्ति।' नाथ-पंथी योगियों का यह विश्वास था कि जो शक्ति अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वही व्यक्ति के शरीर में भी व्याप्त है। पिण्ड अर्थात् शरीर में छिपी हुई इसी शक्ति का विकास कर योगी परम शक्तिमान बन सकता है। इस शक्ति को विकसित कर वह जीवित रहते ही, मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। जरा और मृत्यु की बाधाएँ उसे नहीं व्यापतीं। नाथपंथीयोगियों ने अखिल सृष्टि में परिव्याप्त शक्ति को महाकुण्डलिनी और व्यष्टि (व्यक्ति) में व्याप्त इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहा। इसी कुण्डलिनी शक्ति को विकसित कर व्यक्ति जीते हुए ही अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है। कुण्डलिनी उत्थापन की इसी प्रक्रिया को हठ योग नाम दिया गया है। इसकी सैद्धान्तिक व्याख्या इस प्रकार है—

पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहां सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है, वहाँ एक त्रिकोण में स्वयंभूलिंग स्थित है। इस त्रिकोण को अग्नि-चक्र भी कहा गया है। इसी अग्निचक्र में स्थित स्वयंभूलिंग में साढ़े तीन वलयों (वृतों) में सर्पिणी की भाँति लिपटी हुई कुण्डलिनी स्थित है। यह कुण्डलिनी व्यक्ति की जाग्रत सुषुप्ति और स्वप्न तीनों ही अवस्थाओं में निश्चेष्ट पड़ी रहती है। इसी निश्चेष्ट पड़ी हुई महाशक्ति को योगी साधनाओं द्वारा ऊपर उठाता है। कुण्डलिनी दो कुण्डलों के बीच में स्थित है ये दो कुण्डल इड़ा और पिंगला हैं। इन दोनों नाड़ियों के बीच में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है कुण्डलिनी शक्ति इसी सुषुम्ना के भीतर से ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। शरीर की इन्हीं तीन प्रमुख नाड़ियों को सिद्ध साधकों ने क्रमशः ललना, रसना और अवधूति तथा सन्त साधकों ने गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहा है। कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया में शरीर के अंतर्गत कई चक्रों की चर्चा की गयी है। साधना द्वारा कुण्डलिनी इन्हीं चक्रों का भेदन करती हुई सहस्त्रार चक्र तक पहुँचती है। क्रम से इन चक्रों का विवरण इस प्रकार दिया गया है।

(१) **मूलाधार चक्र**—यह चक्र गुदा के ऊपर तथा लिंग मूल के नीचे सुषुम्ना के मुख से संलग्न है। इसकी आकृति चार दल वाले कमल के समान है और रंग पीला है। इसके चार दलों को सूचित करने वाले अक्षर ब,श,ष,

तथा ह हैं। इसके ध्येय देवता गणेश हैं। इसी चक्र के ठीक नीचे त्रिकोण आकृति के अग्नि चक्र में कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है। मूलाधार चक्रमें सर्वत्र प्राण वायु प्रसृत रहती है। इसी प्राण वायु के संयमन द्वारा योगी सुप्तावस्था में विद्यमान कुण्डलिनी को उत्थित कर, सर्व प्रथम मूलाधारचक्र का भेदन करवाता है। यह कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया में, प्रथम आयाम है। इस चक्र की अधिष्ठात्री डाकिनी देवी हैं।

(२) **स्वाधिष्ठान चक्र**—लिंग मूल में स्थित यह चक्र ६ दलों वाले कमल की आकृति का है। इसके दलो के सूचक अक्षर क्रमशः ब,म,भ,य,र, ल हैं। इसका रंग लाल है और इसकी अधिष्ठात्री शाकिनी देवी हैं। कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया में इस चक्र का द्वितीय स्थान है। कुण्डलिनी जैसे ही इस चक्र में पहुँच, इसका भेदन करती है, योगी विश्व भर के बन्धनों तथा भय से रहित होकर उन्मुक्त विचरण करता है।

(३) **मणिपूर चक्र**—यह नाभि के नीचे स्थित है। इसका रंग सुनहरा है और आकृति दस दल वाले कमल की है। इसके दस दलों के सूचक अक्षर, ड, द, ज, त, थ, द, ध, न, प, क हैं। इसकी अधिष्ठात्री लाकिनी देवी है। कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया में पड़ने वाला यह तीसरा चक्र है। कुण्डलिनी के इस चक्र में पहुँच जाने पर योगी को पाताल-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। अपनी इच्छाओं पर उसे अधिकार हो जाता है। रोग, शोक उसके समीप भी नहीं आते।

(४) **अनाहत चक्र**—यह चक्र हृदय स्थल में स्थित है। इसकी आकृति १२ दल वाले कमल की है। काकिनी देवी इसकी अधिष्ठात्री हैं और इसका रंग लाल बताया गया है। कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया में यह चौथा चक्र है। कुण्डलिनी को उत्थापित कर, इस चक्र का भेदन करा लेने वाला योगी त्रिकालज्ञ होकर परम ज्ञानी बन जाता है। सृष्टि के सारे रहस्य उसे स्वत; उदभासित होने लग जाते हैं।

(५) **विशुद्धाख्य चक्र**—इसे विशुद्ध चक्रभी कहते हैं। यह कण्ठ में स्थित है। इसकी आकृति १६ दल वाले कमल की है। चमकते हुए सोने की भाँति इसका रंग है तथा शंकिनी इसकी अधिष्ठात्री देवी हैं। कुण्डलिनी उत्थापन

क्रिया में यह पाँचवाँ आयाम है। इस चक्र तक कुण्डलिनी को पहुँचा देने वाला योगी आत्मस्थ हो निरंतर ऊर्ध्वमुखी चित्तवृत्ति वाला हो जाता है।

(६) **आज्ञा चक्र**—यह भौंहों के मध्य भाग (त्रिकुटी) में स्थित, दो दल वाले कमल की आकृति का चक्र है। इसका रंग श्वेत है। हाकिनी इसकी अधिष्ठात्री देवी हैं। इसके दोनो ओर इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं। रूपक की शब्दावली में इसे ही वाराणसी कहा गया है। यहीं विश्वनाथ का निवासस्थान है।

सहस्रार—हठयोग साधना में, कुण्डलिनी द्वारा इन छः चक्रों का भेदन करा लेने के बाद शून्य चक्र की स्थिति भी बतायी गयी है। इसी शून्य चक्र में जीवात्मा को पहुँचा देना, योगी अपना परम लक्ष्य मानता है। शून्य चक्र को एकसहस्र दल वाले कमल की आकृति का बताया गया है इसी लिए इसका एक अन्य नाम सहस्रार चक्र भी है। गगन मण्डल और कैलास भी इसी को संबोधित करने वाले पद हैं। इसी सहस्रदल कमल की कर्णिका में एक द्वादश दल कमल भी है। उसके ऊपरी भाग में एक पश्चिमाभिमुख योनि मण्डल है। इसी योनि में सुषुम्ना विवर है। इसी विवर के मूल में शून्याकार ब्रह्मरन्ध्र है। यही परम शक्ति (ब्रह्म) का निवास है। इसमें ६ बन्द दरवाजे हैं जिसे कुण्डलिनी ही खोल सकती है। कबीर इन्हें ही छः खिड़कियाँ कहते हैं। कहीं-कहीं ब्रह्मरन्ध्र को ही दशम दुवार भी कहा गया है। यहीं पर ब्रह्मनाद या अनहतनाद सुनायी पड़ता है। इस स्थिति तक पहुँची हुई योगी की चित्तवृत्ति ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो कर शान्त हो जाती है। योगियों ने चित्तवृत्ति की इसी अवस्था को 'समाधि, की अवस्था कहा है। कबीर इसे ही 'सहजावस्था, या 'सहज समाधि कह कर सबोधित करते हैं।

कबीर पर हठयोग तथा अन्य साधनाओं का प्रभाव

कबीर का युग नाथपंथी हठयोगियों तथा तांत्रिक साधकों के उत्थान का युग था। ये साधक सामान्य जनता में अत्यधिक प्रसिद्धि पा चुके थे। कबीर भी इन योगियों के सम्पर्क में आये और उन्होंने इनसे बहुत सी बातें सीखीं। परन्तु इन योगियों के कठिन योग सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए भी उन्होंने इन क्रियाओं का प्रसार अत्यन्त सरल ढंग से किया। इन्होंने हठयोग, लययोग तथा

राज योग सभी की चर्चा तो की परन्तु कहीं भी वे सिद्धान्त का प्रतिपादन करते या किसी योग प्रक्रिया का क्रमिक विवेचन करते नहीं देखे जाते। सुने-सुनाये शब्दों और सिद्धान्तों की चर्चा मात्र ही उनकी कविता की प्रमुख विशेषता रही है। संक्षेप में कबीर ने सभी योग-साधनाओं का सतही प्रभाव ही ग्रहण किया, वे गहराई में नहीं पैठे।

कबीर और हठयोग:—

कबीर की रचनाओं में जितनी भी हठयोग परक उक्तियाँ हैं वे प्राय: किसी-न किसी 'अधूवत' या योगी को संबोधित कर कही गयी हैं। ऐसी उक्तियों में उनका व्यंग्य स्पष्ट हो उठता है। कबीर के युग के नाथपंथी योगी 'अवधूत' कहलाते थे। इन अवधूतों में नाथपंथियों की पूर्ववर्ती सात्विक वृत्ति का व्यवहार न होकर, तामसिक वृत्ति का बोल बाला हो गया था। कबीर तामसिक वृत्ति वाले इन योगियों पर करारा व्यंग्य करते देखे जाते हैं। वे इन योगियों की आडम्बर पूर्ण साधना की भर्त्स्ना करते हुए, सहज-साधना पर बल देते देखे जाते हैं? कबीर की योग संबंधी अधिकांश उक्तियाँ इन्हीं अवधूतों और योगियों को संबोधित कर की गयी हैं।

जहाँ तक कबीर की साधना पर हठयोग के प्रभाव की बात है, उसे कई अवस्थाओं में देखा जा सकता है। पहली अवस्था में कबीर हठयोग के जटिलतम स्वरूप को अपनाते देखे जाते हैं। इसी अवस्था में कुण्डलिनी उत्थापन और विविध चक्रों तथा नाड़ियों की चर्चा करते हैं। ब्रह्म संबंधी जटिलतम रहस्यवादी उक्तियाँ भी इसी अवस्था से संबंधित हैं। १० दरवाजे, ५२ कोठरी, १४ चन्दा, ६४ दिया, १२ कोश, ७ सुरति, १६ संख तथा ७२ नाड़ियों की जटिल चर्चा इसी अवस्था से संबद्ध है। कबीर की इस अवस्था की कविता में हठयोग की जटिल सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का उल्लेख बहुश: हुआ है। उनकी इस अवस्था की उक्तियों को समझने के लिए नाथपंथियों के हठयोग का सैद्धान्तिक ज्ञान पृष्ठभूमि के रूप में आवश्यक हो जाता है क्योंकि कबीर ने योगियों के मुख से हठयोग की सुनी-सुनायी बातों को अपनी रचनाओं में समाहित कर लिया है। इस अवस्था की कविता परिभाषा एवं पूर्व परम्परा

ज्ञान की अपेक्षा रखती है । इस अवस्था का कवि एक साधक के रूप में जटिल साधनाओं के जाल को सुलझाने में लगा है। अभी वह परमपद की प्राप्ति के साधनों की खोजमात्र कर रहा है।

हठयोग साधना की द्वितीय अवस्था में कबीर की कविता अपनी पूर्ववर्ती जटिलता को छोड़ सरल वर्णनों के मार्ग का अनुगमन करने लग जाती है। इस अवस्था में उनकी कविता विभिन्न योगसिद्धान्तों का समाहार करती दिखायी पड़ती है। वे कभी तो षट्चक्र भेदन की बात करते हैं कभी त्रिवेणी स्नान की और कभी ब्रह्मरन्ध्र में टपकने वाले अमृत के पान की बात करते हैं। साधना की इस सरल अवस्था में कबीर वायु-संयमन पर अधिक बल देते देखे जाते हैं। उनका दृढ़ मन्तव्य है कि श्वास-प्रश्वासों के संयमन मात्र से योगी परमपद की प्राप्ति कर लेता है। योग साधना की इस अवस्था से संबंधित कबीर की रचनाएँ जटिलता से रहित, अत्यंत सरल हैं। विविध लौकिक दृष्टान्तों का सहारा लेकर कबीर योग साधना के स्पष्टीकरण में दत्तचित्त दिखायी पड़ते हैं।

कबीर की कविता में चित्रित योग-साधना की तीसरी अवस्था सरलतम एवं उनके मौलिक चिन्तन से युक्त अवस्था है। इसमें वे भक्ति (प्रेम) और योग का समन्वय करते देखे जाते हैं। यहाँ उनका विश्वास है कि राम नाम का जप ही सबसे बड़ी योग साधना है। राम नाम एक ऐसा अमृत है जिसे पीते ही भौतिक तृष्णा भाग जाती है। रामनाम रूपी प्रेम पियाले को पीते ही कुण्डलिनी स्वयं जागृत हो जाती है। कबीर के ही शब्दों में—

कोई पीवे रस नाम का जो पीवे सो जोगी रे।
सती सेवा करो राम की और न दूजा भोगी रे।
यहु रस तो सब फीका भया, ब्रह्म अग्नि पर जारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे राम तनी मतवारी रे।
चन्द्रसूरे दोई भाटी कीन्हीं सुखमनि चिगवा लागी रे।
अमृत को पी साँचा पुरया मेरी तृष्णा भागी रे।

यह रस पीवे गूँगा महिला ताकि कोई न बूझै सार रे
कहै कबीर तहाँ रस महँगा को जीयेगा जीवणहार रे।

कबीर की साधना की यही चरमावस्था है। इसे उनकी 'सहज-साधना' भी कहा जा सकता है। यहाँ वे योग की किसी जटिल साधना पर बल न देकर, एक सिद्ध योगी की भांति केवल नाम-जप पर बल देते देखे जाते हैं। इस अवस्था का अनुसरण करने वाले योगी को कठिन साधना की आवश्यकता नहीं रहती है। योगी ही क्या साधारण व्यक्ति भी इस मार्ग का अनुसरण कर भौतिक बाधाओं से छुटकारा पा सकता है।

ऊपर कबीर की योग साधना की तीन क्रमिक अवस्थाओं का विवेचन किया गया है। इन अवस्थाओं में कबीर का सत्यान्वेषण स्पष्ट हो उठता है। कबीर ने जीवन-पर्यन्त सत्य की खोज की। इस खोज के बीच, प्रारम्भिक अवस्था में वे साधना मार्ग की जटिल अरण्यानी में उलझे रहे। साधना की इस अवस्था में वे सिद्धान्तों की लीक पकड़े रहे। दूसरी अवस्था में भी वे विविध साधनाओं का छोर पकड़े हुए दिखायी पड़ते हैं। इस अवस्था में उन्हें सत्य का आभास तो मिल गया पर वे उसके स्थान की खोज करते रहे। साधना की तीसरी अवस्था में उन्होंने ब्रह्मपद को जान ही लिया। सत्य का ज्ञान होते ही उन्हें 'सहज-साधना' मार्ग का भी ज्ञान हो गया। अपने पूर्व प्रयास उन्हें आडम्बर मात्र दिखायी देने लगे। अब उनकी समझ में आया कि परमात्मज्योति तो घट ही में है, उसका साक्षात्कार भी, सरल रीति से हो सकता है; और वह सरल रीति है, निर्गुण तथा निराकार, परम-शक्ति के नाम का जप। इसी शक्ति को उन्होंने 'राम' संज्ञा से विभूषित किया। इसे ही उन्होंने समस्त योग साधनाओं का सार बताया। इसे ही अमृत रस का प्रेम-पियाला कहते हैं, जिसे पी लेने पर कुण्डलिनी शक्ति स्वयं उत्थित होकर आत्मा का परमात्मा से मेल करा देती है। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर ने अपने युग में प्रचलित कठिन योग-साधना को अत्यंत सरल एवं सहज बना दिया। एक प्रकार से उन्होंने दो अलग-अलग धाराओं में, विपरीत दिशाओं में, प्रवाहित होने वाले योग मार्ग और भक्ति मार्ग का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित कर दिया। 'कबीर' के इसी

सरल योग मार्ग को 'सहज योग' भी कहा गया है। उनके 'सहज योग' पर विचार करने के पहले इसके बीच पड़ने वाली साधना की अन्य स्थितियों पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

कबीर का शब्द सुरतियोग एवं मंत्रयोग

कबीर की हठयोग साधना और 'सहजयोग साधना' के बीच 'शब्द सुरतियोग-साधना' की भी चर्चा की गयी है। शब्द सुरतियोग को भारतीय 'लययोग' का ही समानार्थक माना गया है। लय-योग की चर्चा पहले की जा चुकी है। कबीर अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर 'शब्दब्रह्म' की चर्चा करते दिखायी पड़ते हैं। कहीं-कहीं वे राम-नाम को ही निरंजन शब्द ब्रह्म रूप कहते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अनहदनाद (ब्रह्मनाद) सुनायी पड़ता है, वहीं परम शक्ति का निवास है। सुरति (आत्मा) का इसी शब्द ब्रह्म से सायुज्य स्थापित कराना ही कबीर का परम लक्ष्य है। उपनिषदों में वर्णित प्राप्ता और प्राप्तव्य दो आत्माओं को ही कबीर ने क्रमशः सुरति और निरति कहा है। इन्हीं सुरति और निरति में तादात्म्य स्थापित हो जाने पर, परमात्मा का द्वार स्वयं ही खुल जाता है, और आत्मा सहज ही, जाकर परमपद में विलीन हो जाती है। योग की इस अवस्था की प्राप्ति के लिए कबीर शारीरिक साधना (हठयोग साधना) पर बल न देकर मन की साधना पर बल देते हैं। वे मन की साधना द्वारा सुरति (साधक आत्मा) को त्रिकुटी एवं ब्रह्मरन्ध्र पर केन्द्रित करने की बात करते हैं। यहाँ कबीर हठयोग की कठिन साधना से, सरल साधना की ओर उन्मुख होते दिखायी देते हैं। इस स्थिति में वे आसन और पवन साधन पर अधिक बल न देकर मन को वश में करने पर अधिक बल देते हैं। त्रिकुटी पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए वे **'मंत्रयोग'** का आश्रय लेते देखे जाते हैं। इस स्थिति में मंत्रयोग के आवश्यक अंगों के नाम जप और अजपाजाप (मनसा जाप) पर विशेष बल दिया गया है। इन साधनों के द्वारा कबीर ने मन की बहिर्मुखी गति को अंतर्मुखी बना देने पर बल दिया—

'मन रे मन ही उलटि समाना'—की स्थिति यही है। कबीर पंथियों ने इसे ही कबीर की साधना की चरम स्थिति माना है। परन्तु कबीर की साधना

सरसता की ओर एक पग और आगे बढ़ती है; इसे ही उनका सहज योग कहा गया है।

कबीर का सहजयोग—अपनी साधना की चरमावस्था में कबीर हठयोगादि की कठिन साधनाओं को छोड़कर, आत्मस्थ हो, मन की साधना पर अधिक बल देने लगते हैं। साधना के इस रूप में, साधक को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन्द्रिय निग्रह और मन की साधना मात्र आवश्यक रह जाती है। कबीर इस साधना के लिए स्वयं ही कहते हैं—

'सहज होय सो होय।'

इस साधनावस्था में मन सहज ही परमात्मा में लीन हो जाता है—

'सहजै रहै समाय न कहूँ आवै न जाय।'

साधना की इस अवस्था में योगी को किसी प्रकार के वाह्याडम्बर-जप–तप आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अहर्निश केवल मन की साधना करता है। इस प्रकार की साधना करने वाले योगी को ही कबीर सिद्ध योगी मानते हैं। वे कहते हैं—

सो जोगी जाके मन मुद्रा।
रात दिवस न करइ निन्द्रा॥
मन में आसव मन में रहना।
मन का जप–तप मन कूँ कहना॥
मन में खपरा मन में सींगी।
अनहदनाद बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूका॥
कहै कबीर सो रहसै लंका॥

मन की यही आत्मस्थता 'उन्मनावस्था' कही गयी है। वास्तव में इस अवस्था में मन पूर्णतया समाधिस्थ हो 'सहज शून्य' (शब्द ब्रह्म) से सायुज्य स्थापित कर लेता है। कबीर की यह 'सहजयोग–साधना' राजयोग का ही प्रतिरूप कही जा सकती है। योग साधना की यही चरमावस्था कही गयी है, इस अवस्था में योगी बिना प्रयास के ही परम शक्ति का सायुज्य प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है। मन की यह उन्मनावस्था, उसे बहकाने वाले काम, क्रोध, लोभादि भौतिक शत्रुओं को मार भगाती है। इस उन्मनावस्था की प्राप्ति के लिए कबीर

ने एक सीधा सा मार्ग 'नाम-जप' बताया। इस स्थल पर पहुँच कर कबीर ने अपनी सारी योग साधना का समाहार भक्ति में कर दिया। यही भक्ति विशिष्ट सहजयोग ही कबीर का चरम योग मत है। इस स्थिति में पहुँचकर उन्होंने भक्ति और योग का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत कर दिया है। योग विशिष्ट इसी भक्ति-मार्ग को कबीर ने 'षांडे की धार' और 'सिलहिली गैल' कहा है।

इसी स्थिति में पहुँचे हुए कबीर ने 'पूरे सो परिचय' प्राप्त कर सिद्धावस्था प्राप्त कर ली, उनका मन स्थिर हो गया, सारी कामनाएँ शांत हो गयीं। उन्हें अपने शारीरिक सुख-दुःख का ध्यान ही न रहा। वे जीवित रहते हुए भी जीवन मुक्त हो गये। योग साधना का यही परम लक्ष्य भी है। इसी की प्राप्ति के लिए योगी अनेकों प्रकार की काया-साधनाएँ करता है, भाँति-भाँति के कष्ट उठाता है। परन्तु कबीर ने यह सब, सहज ही प्राप्त कर लिया, उन्हें किसी प्रकार का प्रयास ही नहीं करना पड़ा।

क्या कबीर एक सिद्ध योगी थे ?—कबीर की योग सम्बन्धी विचार धारा पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। इसे देखते हुए एक प्रश्न स्वतः ही उठता है कि क्या कबीर एक सिद्ध योगी थे ? कबीर की योग सम्बन्धी चर्चा को देखते हुए, कोई भी उन्हें, सिद्ध योगी कहने को तैयार हो सकता है, पर तथ्य कुछ और ही है। वास्तव में कबीर का मूल उद्देश्य योग साधना का विवेचन करना न होकर, विविध प्रचलित योग मार्गों को भक्ति मार्ग के अन्तर्गत समाहित करना था। यही कारण है कि कबीर विविध योग मार्गों की चर्चा करते हुए भी किसी पर टिकते नहीं हैं। उनका उद्देश्य ही यह रहा है कि, सभी योगमार्गों की जटिलताओं का निदर्शन कर उनका समाहार सरलतम भक्ति मार्ग के अन्त-र्गत करें। वास्तव में कबीर एक धार्मिक एवं भक्त गृहस्थ थे। उनका सारा प्रयास, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग दोनों के समन्वय की ओर रहा। उनके समक्ष विविध यौगिक साधनाओं और मतवादों का अम्बार था। इसी विद्रूप अम्बार को साफ कर वे उस पर भक्ति का पवित्र-भवन खड़ा करना चाहते थे, और यह, उन्होंने किया भी। कठिन योग साधनाओं को खींच तान कर वे सरल भक्तिमार्ग की ओर ले गये और, अन्ततः उन्होंने इसे भक्ति के अन्तर्गत समाहित ही कर लिया। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर एक भक्त संत थे, उन्हें योग-मार्ग का उपासक बताना एक भ्रान्ति मात्र है।

५

कबीर की धार्मिक विचारधारा

अब तक धर्म की जितनी भी परिभाषाएँ दी गयी हैं, उन्हें देखते हुए, इसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) धर्म का वह रूप जो संकुचित विचार धाराओं में बँधकर चलने वाला होता है तथा जिसका विस्तार एक देश विशेष या जाति विशेष तक सीमित रहता है—जैसे हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म आदि। (२) धर्म का वह रूप जो विश्व मानवता का चिन्तन करता हुआ, सामान्य वाह्याचारों से दूर रहकर–मानव हित–चिन्तन में दत्तचित्त रहता है। धर्म के इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली मान्यताएँ न तो किसी देश विशेष की अपनी होती हैं और न ही किसी जाति विशेष की। इस वर्ग का धर्म कर्तव्य का पर्यायवाची समझा जा सकता है। मानवता के कल्याण के लिए यही धर्म सदैव से आगे आता रहा है।

धर्म की ये दो धाराएँ अनादिकाल से ही प्रवाहित होती देखी जा सकती हैं। स्वयं भारत में ही बहुत प्राचीन काल से धर्म की ये दोनों ही धाराएँ प्रवा–हित रही हैं। वैदिक युग के जटिल कर्मकाण्डपरक धर्म के विरोध में 'व्रात्यों' का धर्म मानव-कल्याण को प्रश्रय देने वाला रहा। आगे चलकर इसी वैदिक कर्मकाण्ड परक धर्म के विरोध में भगवान् बुद्ध ने अपना मानवतावादी धर्म प्रसारित किया। यही परम्परा लगातार आगे बढ़ती रही। भारतीय इतिहास का मध्यकाल धर्म के वाह्याडम्बर का काल है। इस युग में धर्म कर्मकाण्ड तक ही सीमित न रह कर मानवता के विध्वंस का भी माध्यम बन गया था। धर्म के वाह्याचारों को प्रश्रय देने वाली दो जातियों (हिन्दू और मुसलमान) का संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच गया था। कबीर धर्म की इसी विकृत अवस्था में उत्पन्न हुए। धर्म

की आडम्बर पूर्ण कल्पनाओं को उन्होंने खुली आखों से देखा। उन्हें स्पष्ट दिखायी पड़ा कि धर्म मानवता के कल्याण की वस्तु न रहकर उसके विनाश की वस्तु बन गया है। धार्मिक भावुकता में डूबा व्यक्ति का मन बौद्धिक चिन्तन से दूर ही रहता आ रहा था। धर्म की संकुचित मान्यताएँ अपना नग्ननृत्य दिखा रही थीं। कबीर जैसे उद्बुद्ध चिन्तक को यह सब सहन न हुआ। उन्होंने धर्म के वाह्याडम्बरों की कटु आलोचना की और जनता के समक्ष धर्म के व्यावहारिक रूप को रखा। उन्होंने सभी प्रचलित धर्मों के दोषों की आलोचना करने के साथ ही सभी धर्मों के समान तत्वों को ग्रहण कर, एक सामान्य मानव धर्म की स्थापना की। यह एक ऐसा व्यावहारिक धर्म था, जिसमें कोई वाह्याडम्बर नहीं था। यह धर्म हिन्दू, तुर्क, ब्राह्मण, शूद्र, अमीर–गरीब, योगी तथा गृहस्थ सभी का धर्म था। कबीर का यही धर्म 'सहज धर्म' कहलाया। इस धर्म का प्रमुख तत्व था, मानव-हित-चिन्तन। कबीर का यह धर्म व्यावहारिक चिन्तन पर आधारित था। सहजाचरण, सहजसाधना तथा सहजोपासना इस धर्म की प्रमुख बातें थीं। कबीर ने प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक ही ज्योति का निवास देखा। यही कारण है कि उनका धर्म देशगत, जातिगत एवं सम्प्रदायगत मान्यताओं से दूर है। सभी देशों, जातियों एवं सम्प्रदायों के लिए यह अति समान्य धर्म रहा।

कबीर के 'सहजधर्म' की आधार शिला बौद्धिकता रही। जीवन पर्यन्त उन्होंने एक सफल बौद्धिक के समान सत्यान्वेषण किया। इस सत्यान्वेषण में उन्होंने विविध आध्यात्मिक चिन्तनों का सहारा लेते हुए भी, स्वानुभूति को ही विशेष प्रश्रय दिया। परम्परा प्रचलित मान्यताओं एवं विचारों को उन्होंने स्वानुभूति की कसौटी पर कसा और इस प्रयोग से निकलने वाले सत्य खण्ड को ही, उन्होंने, मानव मात्र के लिए उपयोगी बताया। विविध धर्मों एवं सम्प्रदायों के जटिल मार्ग का अनुसरण न कर कबीर ने सभी के बीच से एक सरलतम मार्ग की खोज करनी चाही। चाहे धर्म हो, चाहे दर्शन हो, कबीर ने सर्वत्र, इसी सरलतम मार्ग का अनुसरण किया। उनके द्वारा विकसित मार्ग, तर्क पर आधारित न होकर अनुभूति पर आधारित है। स्वानुभूति के आधार पर उन्होंने अखिल विश्व में एक ही सत्ता को परिव्याप्त देखा, और उस सत्ता में उन्हें कहीं

भी भेद नाम की वस्तु का अंश नहीं दिखायी पड़ा। यही कारण है कि वे अपने धर्म में भेदबुद्धि को कहीं भी प्रश्रय नहीं देते। कबीर का यह धर्म ही वास्तविक धर्म है। कबीर के कथन ही धर्म के मर्म हैं,इनके अतिरिक्त धर्म की अन्य संकुचित बातें तो व्यक्ति को भटकाने वाली हैं, वे उसे वास्तविक तथ्य से अवगत ही नहीं होने देतीं।

कबीर की धर्म-साधना—

कबीर का सहज धर्म 'मानव धर्म' ही है। इसमें धर्म के विकृत पक्षों (वाह्याडम्बर आदि) को प्रश्रय न देकर, नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। कबीर के नैतिक आचरण किसी एक देश या जाति से संबद्ध न होकर मानव मात्र से संबद्ध है। किसी भी समाज में नैतिक आचरण के दो प्रमुख रूप पाये जाते हैं —एक होता है विधि रूप और दूसरा निषेध रूप। कबीर का सहज धर्म भी कुछ विधि रूप एवं निषेध रूप आचरणों पर आधारित है। इस धर्म के विधि रूप नैतिक आचरणों में शील, क्षमा, दया, दान, धीरज, संतोष, परोपकार, अहिंसा, सत्याचरण, समदर्शिता, सारग्राहिता, आदि प्रमुख है। निषेधरूपी आचारणों में, मद्य, मांस, काम, क्रोध, लोभ, मान, कपट, तृष्णा आदि प्रमुख हैं। ये विधि और निषेध रूप आचरण किसी भी देश व जाति तथा धर्म के सामन्य आचरण हैं। कबीर जीवनपर्यन्त इन्हीं नैतिक आचरणों के प्रसार पर बल देते रहे। इन नैतिक आचरणों का पालन पर कोई भी व्यक्ति शुद्ध मन, निष्कपट हृदय एवं पवित्र विचार वाला बन सकता है। विश्व के जितने भी धर्म हैं, उसमें जितने भी प्रचलित कर्मकाण्ड हैं, सबका यही अन्तिम लक्ष्य हैं। परन्तु कबीर केवल मन को साधने पर बल देते है, मन की साधना का अभ्यास होते ही सारा कर्मकान्ड व्यर्थ दिखायी पड़ने लगता है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि कबीर का सहज धर्म मूलतः अन्तःसाधना पर बल देता है, बिना अन्तःकरण के शुद्ध हुए भगवान मिल ही कैसे सकते हैं—

हरि न मिले बिन हिरदै सूध !

धर्म के इसी तथ्य का प्रत्याख्यान वेद, शास्त्र, कतेब सभी करते हैं—धर्म के इस रूप के अतिरिक्त अन्य जितने रूप प्रचलित हैं वे मूल धर्म न होकर व्यक्ति

द्वारा निर्मित अवास्तविक धर्म हैं। इन अवास्तविक धर्मों की निन्दा कबीर ने बार-बार की है। उनकी दृष्टि में ये धर्म, मात्र भेदबुद्धि उत्पन्न करने वाले हैं—

'सर्वभूत एके करि जाना चूके वाद-विवाद'—

मानव निर्मित धर्म, वाद-विवाद के घेरे में भटकता हुआ, एक ही तत्वभूत मानवों को भिन्न करके देखने लगता है। कबीर का धर्म सभी को समरस कर देखता है।

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय अपने अलग-अलग साधना मार्ग निर्धारित करता है। कबीर के 'सहजधर्म' के भी कुछ साधना मार्ग हैं—वे हैं सहजज्ञान सहज-वैराग्य, सहजयोग तथा सहजाभक्ति। कबीर ने अपने साधना मार्ग में सभी प्रच-लित साधनाओं को स्थान तो दिया, पर वे उनके सरल एवं सहज रूप पर ही बल देते हैं। कबीर का साधना मार्ग ज्ञान को प्रश्रय देता अवश्य है, पर यह ज्ञान अनुभूति पर आधारित है, इसके लिए मोटी-मोटी पोथियों के अध्ययन या कठोर तप की आवश्यकता नहीं है। कबीर का साधना मार्ग वैराग्य पर बल देता है, परन्तु यह वैराग्य मन का वैराग्य है, इसके लिए गेरुआवस्त्र धारण कर सन्यासी होने या फिर जंगल में रहकर तपस्या करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार उनका सहजयोग, योगमार्ग की कठिन काया-साधना पर आधारित न होकर मन की ही साधना पर आधारित है। इसी तरह उनकी सहजाभक्ति, भक्ति के वाह्य आडम्बरों पर आधारित न होकर मन, कर्म और वचन से ईश्वर के नाम स्मरण मात्र पर आधारित है। इस प्रकार इनका साधना-मार्ग सर्वत्र सरलता एवं सहजता पर ही आधारित है। कबीर अपने सहजधर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

सहज-सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोय।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोय॥

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर ने यद्यपि किसी भी सम्प्रदायगत धर्म के रूप का प्रत्याख्यान नहीं किया फिर भी वे श्रेष्ठ धार्मिक के रूप में प्रतिष्ठित हुए क्योंकि उन्होंने धर्म के वाह्य रूप को न देख कर उसके आन्तरिक एवं मूल रूप को देखने का प्रयास किया।

कबीर की भक्ति-भावना—'कबीर' 'निर्गुण' और 'निराकार' ईश्वर की उपासना करने वाले भक्त हैं। उनकी भक्ति ज्ञान के सहारे, अनुभूति विशेष पर

बल देने वाली है। बिना किसी वाह्याडम्बर के, बिना किसी दिखावे और जप-तप के वे 'सूधे मन' और 'सूधे कर्म' तथा 'सूधे वचन' से अपने आराध्य की उपासना करते हैं। उनकी भक्ति पूर्णतया भावमयी है। यह 'भाव-भगति' उन्हें अपने परम श्रेष्ठ गुरु रामानन्द से मिली थी। वे कहते भी हैं—

'सन्तो भक्ति सतो गुरु आनी—'

गुरु के प्रसाद से उन्हें 'रामरस' का आस्वाद मिला कबीर का जीवन धन्य हो गया। गुरु का उपदेशामृत मिलते ही उन्हें स्पष्ट हो गया—

'भाव भगति विसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु, मुक्ति नहीं रे मूल॥

अपने परम आदरणीय गुरु से भक्ति रूपी रसायन प्राप्त करने के पहले कबीर हठयोगादि की दुर्गम घाटियों में सचरण कर चुके थे परन्तु वहाँ उनका मन रमा ही नहीं। जिस दिन से उन्हें गुरु रामानन्द का सम्पर्क मिला उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा, आँख मूँदने और कान रूँधने के टंटे को नमस्कार कर लिया, मुद्रा और आसन की गुलामी से मुक्त हो गये। 'उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ग्रहण कर लिया। हठयोग के टंटे दूर हो गये, खुली आँखों से ही उन्होंने भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द मिलने लगा' और फिर योग साधना के वितण्डे से दूर होकर कबीर ने उन्मुक्त कण्ठ से घोषित कर दिया—

'सन्तो सहज समाधि भली।'

विविध योग साधनाओं की दुर्गम घाटियों में विचरण करते हुए कबीर को परम गुरु ने प्रेम का मन्त्र दिया। वे गुरु के ही रंग में रंग गये। गुरु द्वारा प्रेरित प्रेम-मेघ की वर्षा में कबीर का तन-मन दोनों ही भीग उठा और उनकी प्रेम-रससिक्त आत्मा में भक्ति का पौधा लहलहा उठा। कबीर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं—

कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमा, हरी भई बनराइ॥

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आतमा, ताथैं सदा हजूरि॥

इस प्रकार शुद्धमन, शुद्धकर्म और शुद्ध वचन से कबीर ने अपने भावों का समर्पण उस 'अकल' 'अनूपम' प्रिय के प्रति किया। कबीर ने अपनी भक्ति भावना में किसी प्रकार के वाह्याडम्बर को स्थान न देकर, सहज समर्पण भावना को ही प्रश्रय दिया। प्रेम ही इनकी भक्ति का सार है। इनकी यह प्रेम भावना एकान्तिक होते हुए भी लोक संग्रही है। इन्होंने अपने प्रेम को 'सती' का प्रेम कहा है। वे चाहते हैं कि ईश्वर को अपनी आँखों में बन्द कर लें फिर न वे किसी अन्य को देखें और न वह ही किसी अन्य को देख सके—

नैना अंतर आव तू ज्यों ही नैन झंपेउँ।
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउं।

भक्त की अपनी कोई सत्ता ही नहीं है, जो कुछ है, केवल ईश्वर का है—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा॥
तेरा मुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा॥

उसका प्रिय के प्रति प्रेम सती की सिन्दूर रेखा के समान अमिट है—

कबीर रेख सिन्दूर की काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रहा, दूजा कहा समाइ॥

अब देखना यह है कि कबीर का यह अटूट प्रेम परम्परा की वस्तु है या उनके सच्चे मन का उद्गार मात्र। इतना तो निश्चित है कि कबीर ने अपनी जिस भक्ति गदगद भावना का प्रसार किया, वह उनके युग के लिए अतीव लाभ कारिणी सिद्ध हुई। उनका प्रेम न किसी व्यक्ति विशेष का प्रेम है और न ही जाति विशेष का। उनका प्रेम मानव मात्र की सच्ची अनुभूतियों पर आधारित है। इसमें न तो किसी सम्प्रदाय की गंध है और न ही किसी मान्यता विशेष की लकीर पीटी गयी है। इतना सब होते हुए भी सभी सम्प्रदायों और धर्मों में प्रचलित भक्ति सम्बन्धी मान्यताओं का आरोप कबीर की भक्ति भावना पर किया जा सकता है। चाहे वैष्णवों की गलदश्रु नवधा भक्ति हो, चाहे सूफियों का 'इश्क' हो, चाहे योगियों की उन्मनी साधना, सभी का समाहार कबीर की

भक्ति-भावना में किया जा सकता है। इन सभी में ईश्वर के प्रति आसक्ति की भावना ही प्रमुख है, यही आसक्ति कबीर की भक्ति-भावना का भी सार है। प्रेम ही उनकी भक्ति-भावना का प्रमुख तत्व है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति भी अत्यंत सहज ढंग से हुई है। कबीर ने अपनी प्रेम-भावना को किसी वितण्डे का रूप न देकर, हृदय की सच्ची अनुभूतियों के रूप में अभिव्यक्ति दी। ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास ही उनके प्रेम का मूल है।

कबीर की भक्ति का स्वरूप—'भक्ति' की अब तक जितनी भी परिभाषाएँ दी गयी हैं, सभी में आराध्य के प्रति अटूट प्रेम को ही महत्व दिया गया है। यही तथ्य कबीर की भक्ति के सम्बन्ध में भी सत्य है। कबीर ने अपनी भक्ति भावना को प्रसाद रूप में अपने गुरु रामानन्द से प्राप्त किया। रामानन्द, रामानुजाचार्य के शिष्य थे। स्वामी रामानुजाचार्य ने भक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है—

'स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते।'
'स्नेह (प्रेम) पूर्व आराध्य का ध्यान भक्ति कहलाता है।'

नारद भक्ति सूत्र में भी 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' कहकर भक्ति को परिभाषित किया गया है। इसी प्रकार भक्ति की अन्य जितनी भी परिभाषाएँ दी गयीं हैं सभी में निष्काम भाव से ईश्वर में लय हो जाना ही प्रमुख बताया गया है। कबीर ने भक्ति के किसी सिद्धान्तबद्ध रूप को मान्यता न देते हुए भी इसके मूल भाव प्रेम पर विशेष बल दिया है। परम्परा प्रचलित वैधी और भाव-भक्ति दोनों ही को इन्होंने भक्ति के साधनों के रूप में स्वीकार किया, परन्तु अधिक बल इन्होंने भाव-भक्ति पर ही दिया। यह भाव-भक्ति उन्हें अपने गुरु से प्रसाद रूप में मिली थी। अब यहाँ कबीर की भाव-भक्ति पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

भा-वभक्ति

(१) **शरणागति**—कबीर की भाव-भक्ति मूल रूप से शरणागति की भावना पर आधारित है। बिना कुछ सोचे समझे मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर की शरण में जाना ही इसका प्रमुख आधार रहा है। गीता और उपनिषदों में इसी को **'प्रपत्ति'** संज्ञा दी गयी है। रामानुजाचार्य ने अपने भक्ति सिद्धांतों में

'प्रपत्ति' पर ही विशेष बल दिया। 'प्रपत्ति' का अर्थ है शरणागति-भक्त का सभी धर्मों एवं साधनों को छोड़कर ईश्वर की शरण में जाना ही प्रपत्ति है। वायु पुराण में इस 'प्रपत्ति' को छः प्रकार की बताया गया है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्यवर्जनम् ॥
रक्षिष्यतीति विस्वासः, गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये, षड्विद्या शरणागतिः ॥

कबीर की भक्ति–भावना में भी 'शरणागति की ही भावना प्रधान है। कबीर ने तन–मन से अपने को राम का गुलाम बना दिया है। वह उसकी शरण में आ गये हैं, वह चाहे उनकी रक्षा करें चाहे उन्हें बेंच दे—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाई
तन-मन-धन मेरा राम जी क ताई।
आनि कबीरा हाट उतारा
सोइ गाहक, सोइ बेचनि हारा।
बेचैं राम तो राखै कौन
राख राम तो बेचै कौन।
कहै कबीर मैं तन–मन जान्या
साहिब अपना छिन न विसान्या।

सभी प्रकार से कबीर की गति 'राम' ही हैं—

तेरी गति तू ही जाने, कबीर तेरी सरना।'

कबीर एक दास के रूप में ईश्वर की शरण आये हैं, भगवान् उनकी रक्षा करेंगे ही—

जन कबीर तेरी सरन आयो, राखि लेहु भगवान् ॥

कबीर की यह 'शरणागति–भावना' हो उनकी भाव—भक्ति का प्रमुख आधार है। उनकी यह भावना जाति भेद और धर्म भेद सभी की पहुँच से परे है। ईश्वर का पद तो सभी के लिए समान है। वे सभी प्राणियों को भ्रम छोड़, एक ही ईश्वर की शरण में जाने की राय देते हैं—

कहत कबीर सुनहु रे प्रानी, छांड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, परहु एक की सरना ॥

इस प्रकार 'शरणागति' की भावना से कबीर की भाव-भक्ति आपाद मस्तक डूबी हुई है। प्रपत्ति के छः अंगों में सभी के उदाहरण इनकी भक्ति-पूर्ण उक्तियों में देखे जा सकते हैं—

(१) **आनुकूल्यस्य संकल्पः**—ईश्वर के अनुकूल आचरण करना अर्थात् स्वयं को ईश्वर प्राप्ति के योग्य बनाना इसके लिए सबसे आवश्यक है मन को शुद्ध करना तथा सज्जनों की संगति में बैठना। कबीर ने इन सभी बातों पर बल दिया है। उनका स्पष्ट मत है—

'हरि न मिले विन हिरदै सूध।'

(२) **प्रातिकूल्ययस्यवर्जनम्**ः—ईश्वर को अप्रसन्न करने वाले कार्यो से दूर रहना अर्थात् माया, मोह, लोभ, क्रोध काम आदि का त्याग। प्रतिकूल आचरणों के वर्जन में तो कबीर ने अति की सीमा ही पार कर दी है। उन्होंने अपना घर ही जला डाला है फिर उन्हें माया, मोह जैसी ईश्वर के प्रतिकूल पड़ने वाली वस्तुएं व्याप ही कैसे सकती हैं। दुष्टों की संगति ईश्वर को सबसे अधिक अप्रिय है कबीर इनसे कोसों दूर रहते हैं।

(३) **रक्षिष्यतीतिविश्वासः**—ईश्वर रक्षा करेंगे ही ऐसा विश्वास करना। कबीर में ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास है। वे गोविन्द को बार-बार पुकार कर कहते हैं "हे गोविन्द मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ मुझे क्यों नहीं उबार लेते? वृक्ष के नीचे आदमी छाया के लिए जाता है अगर उस वृक्ष से ही ज्वाला निकलने लगे तो उपाय ही क्या रह जायगा? आदमी पानी पीकर शीतल होने के लिए जलाशय में जाता है अगर वहाँ से आग की लपटें निकलने लगें तो क्या किया जा सकता है? हे नाथ! कबीर केवल तुम्ही को जानता है, वह तुम्हारी ही शरण आया है। तुम्ही उसका तरण तारण करने वाले हो। तुम्हारे अतिरिक्त वह किसी अन्य देव को जानता ही नहीं।

धूप दाझ ते छांह तकाई, मति तरुवर सच पाऊँ।
तरवर माहै ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ।
बजे बन जलै तो जल कूँ धावै, मति जल शीतल होई।
जल ही माँहि अगनि जे निकसै, और नदू जा कोई।

तारण-तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौ, आन देव नहि मानौं।

कबीर को राम पर बहुत बड़ा विश्वास है इसीलिए वे अन्य किसी की चिन्ता ही नहीं करते--

'अब मोहि राम भरोसा तेरा, और कौन का करौं निहोरा।'

(४) **गोप्तृत्वेवरणं**:--रक्षा करने वाले का वरण करना अर्थात् उसके नाम की महत्ता का गुणगान। कबीर 'राम नाम की महिमा का गुण गान करते थकते ही नहीं। आठो प्रहर उठते-बैठते सोते-जागते, चलते-फिरते वे 'राम-नाम की महिमा का गुणगान करने में दत्तचित्त रहते हैं। अपने को केवल 'राम' के नाम मात्र का, स्मरण करने की सलाह देते हैं—

"मन रे राम सुमरि राम सुमरि राम सुमरि भाई।"

निर्मल राम नाम का गुण गान करने वाला भक्त ही उन्हें प्रिय है--

"निरमल निरमल राम गुण गावै, सो भगता मेरे मन भावै।"

(५) **आत्मनिक्षेपः** –पूर्णतया आत्म समर्पण अर्थात् अपनी समस्त भावनाओं के साथ ईश्वर में समाहित हो जाना। कबीर में शरणागति की भावना 'पति-पत्नी' के आपसी समर्पण भाव में सम्पन्न होती देखी जा सकती है। अपने समर्पण की भावना का स्पष्टीकरण करने के लिए वे 'सती' नारी का रूपक ग्रहण करते हैं—

'जो पै पतिव्रता ह्वै नारी, कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी।
तन-मन जीवन सौंपि शरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा॥

कबीर अपनी समस्त भावनाओं से प्रिय में डूब जाते हैं। इस स्थिति के उनके विरहपूर्ण उद्‌गार अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उनकी 'अबला' आत्मा रात दिन ईश्वर के तादात्म्य के लिए छटपटाती रहती है—

मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुन मेरा पीव।
सून्य सनेही राम बिन, देखूं और न जीव॥

(७) **कार्पण्य**—इसका तात्पर्य है दीनता। भक्त स्वयं को अत्यन्त क्षुद्र समझता हुआ भगवान की शरण में जाता है क्योंकि उसे दृढ़ विश्वास रहता

है कि ईश्वर उसकी रक्षा अवश्य करेंगे। इस मनोवृत्ति की स्थिति में भक्त आत्म निवेदन और ईश्वर की महत्ता के प्रतिपादन पर अधिक बल देता है। कबीर में कार्पण्य की भावना पग–पग पर बिखरी देखी जा सकती है। एक पद्य में तो वे स्वयं को राम का कुत्ता बताते हैं—

कबीरा कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥
तो तो कर तौ बाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूं हरि राखैं त्यूं रहौं, जो देवै सो खाउं॥

यहाँ दैन्य प्रदर्शन की हद हो गयी है। अपनी क्षुद्रता का प्रदर्शन करते हुए भक्त पूर्णतया, स्वयं को राम के अधीन बताता है। इतना ही नहीं राम के समक्ष तो वह, स्वयं को क्षुद्र समझता ही है, राम के भक्तों के समक्ष भी वह स्वयं को अकिंचन सिद्ध करता है। भक्त कबीर स्पष्ट घोषणा करते है "—जो व्यक्ति सोते समय, सपने में भी राम का नाम उच्चरित करने लगता है, उसके पग की पांवरी भी मेरे शरीर के चाम से श्रेष्ठ है"—

'सुपने हू बरराइ के, जिह मुख निकसे राम।
ताके पग की पाँवरी, मेरे तन को चाम॥

इस प्रकार रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'प्रपत्ति' के लगभग सभी अंगों के उदाहरण कबीर की भक्तिपरक उक्तियों में सर्वत्र देखे जाते हैं। आत्मसर्पण एवं शरणागति का भाव ही भक्ति भावना का प्रमुख तत्व है। चाहे सगुण भक्त हों चाहे निर्गुण भक्त हों सभी में यह भावना समान रूप से देखी जा सकती है। कबीर ने यद्यपि शास्त्रबद्ध प्रपत्ति सिद्धान्त का अनुगमन नहीं किया, फिर भी उनकी भावभक्ति उनके भक्ति गद्‌गद हृदय की वस्तु होने के कारण, शास्त्रोक्त सिद्धान्तों के विपरीत नहीं पड़ती। कबीर बिना किसी पृष्ठ-भूमि के शुद्ध मन से राम की शरण में गये। वे केवल दो ही बातें जानते हैं-एक तो राम और दूसरी अपने मन की लगन। इन दोनों के बीच वे शास्त्र-ज्ञान जैसी वाह्य वस्तु को लाना भी नहीं चाहते। उनसे जैसे ही बन पड़ा अपनी भावनाओं का समर्पण राम के प्रति किया। उन्हें न तो किसी सम्प्रदाय विशेष से मोह था और न ही किसी पद्धति विशेष से। उन्हें इस बात की चिन्ता ही

नहीं थी कि उनकी भक्ति भावना को किस कोटि में रखा जायेगा। रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में होने के कारण इनको भक्ति भावना में 'प्रपत्ति-सिद्धान्त' की झलक भले ही मिले पर कबीर ने यह जान बूझ कर किया होगा ऐसा कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। वे तो 'सूधेमन' और 'सूधेवचन' से राम की शरण में जाते हैं। उन्हें सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों से क्या लेना देना।

(२) **प्रेम-भावना** - शरणागति के अतिरिक्त कबीर की भक्ति भावना का दूसरा प्रमुख तत्व परमात्मा के प्रति अटूट प्रेम है। वे आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्त्री और पुरुष का मधुर एवं मादक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। परमात्मा के वियोग में आत्मा परमविरहिणी है। ही जैसे उसका परमात्मा से मिलन होता है वह खुशी से नाच उठती है। आत्मा को स्त्री मान कबीर ने परमात्मा के साथ उसके विविध संबन्धों की उद्भावना की है। बिना प्रिय दर्शन के कबीर छटपटा रहे हैं—

राम बिन तन की ताप न जाई।
जल में अगिन उठी अधिकाई॥
तुम जलनिधि मैं जल कर मीना।
जल में रहौं जलै बिन पीना॥
तुम पिंजरा मैं सुवना तोरा।
दरसन देहु भाग बड़ मोरा॥

प्रिय के सुन्दर रूप का कहना ही क्या? उसको देखेते हो उन्होंने तन-मन सभी की सुध-बुध भुला दी—

पिय को रूप कहाँ लगि बरनौं।
रूपहिं माहिं समानी।
जो रंग रंगे सकल छवि छाके।
तन मन सबहि भुलानी।

रात दिन कबीर की आत्मा प्रिय मिलन की युक्तियाँ सोचती रहती है। वे सभी से बार-बार पूछते हैं, आखिर वह दिन कब आयेगा जब उनका जीवन सफल होगा, देह धरने का फल प्राप्त होगा, प्रिय के साथ अंग में अंग मिलाकर

रभस आलिंगन का अवसर मिलेगा। वह दिन कब आयेगा जब वे प्रिय के साथ हिल-मिल कर खेलेंगे, जब उनका शरीर और उनकी समस्त इन्द्रियाँ, मन और प्राण प्रियतम में एक रूप हो जायेंगे। न जाने राजा राम मेरी यह कामना कब पूर्ण करेंगे—

वै दिन कब आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ॥
हौं जानूँ जे हिल-मिल खेलूँ, तन-मन प्रान समाइ।
या कामना करौ परिपूरन, समरथ हा रामराइ॥

इस प्रकार प्रिय के मिलन के विना कबीर की विरहिणी आत्मा छटपटा रही है, उसे दिन को चैन नहीं, रात को नींद नहीं। प्रिय आये ही नहीं, सेज सूनी पड़ी है, शरीर चर्खा बन गया है। आँखें राह देखते-देखते थक गयीं, परन्तु बेदरदी प्रिय, नहीं ही आया—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ कै भोर किया।
तन-मन मोर रहट-अभ डोलै, सून सेज पर जनम दिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, साईं बेदरदी सुधि न लिया॥

एक अन्य पद में तो कबीर की प्रिय मिलन के लिए व्याकुल आत्मा का साक्षात् चित्र ही सामने आ गया है। प्रिय की राह देखते-देखते विरहिणी आत्मा, खड़ी–खड़ी थक गयी, वह और कब तक खड़ी रहे। वह प्रिय के पद तक जा ही नहीं पाती, क्योंकि एक तो प्रिय का निवास ऊँचाई पर है, दूसरे उसे लज्जा और झिझक भी लगती है। चलने के लिए पैर उठते ही नहीं, उठते भी हैं तो लड़खड़ा जाते हैं। कम्प और रोमांच से सारा शरीर शिथिल पड़ जाता है, पैर उठते ही नहीं, आशंका से हृदय अस्थिर हो उठता है। सँकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, प्रिय से मिलन हो तो कैसे हो—

पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाइ मने लज्जा भरी॥
पांव नहीं ठहराय चढ़ूँ गिर-गिर परूँ।
फिर-फिर चढ़उँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ॥

अंग-अंग थहराइ, तो बहु विधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि, तो भ्रम में परि रहूँ॥
नारी निपट अनारि, वे तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार, मिलन कस होइ है॥

इस प्रकार अन्यानेक मादक एवं मधुर कल्पनाओं के माध्यम से कबीर ने अपनी आत्मा और परमात्मा के अटूट संबंधों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। परमात्मा के प्रति उनकी प्रेममयी लालसा तो पूरे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। इन प्रेम मयी उक्तियों में भक्त के हृदय की मस्ती और उसकी परमात्मा के प्रति अटूट लगन साकार हो उठी है। कबीर की भक्ति-भावना इस स्थल तक पहुँच कर जो ऊँचाई धारण करती है, उसे सभी आध्यात्मिक चिन्तनों की चरम परिणति रहस्यवाद की ही संज्ञा दी जा सकती है। प्रेम की इन मधुर उक्तियों में भक्त कबीर का निश्छल हृदय साकार हो उठा है। उनकी यह भक्ति बिना किसी बाह्यसाधन के पूर्णरूपेण भावों का समर्पण कही जा सकती है। कबीर की इस अद्भुत भाव-भक्ति के समक्ष वैष्णवों की भक्ति पानी भरती दिखायी पड़ती है। आत्मा और परमात्मा के संबंधों की जो गहराई कबीर की प्रेम मयी उक्तियों में उल्लिखित है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहीं-कहीं तो कबीर की उक्तियाँ 'विरह विधुर' सूफियों को भी पीछे छोड़ गयी हैं। प्रेम का यह प्रसाद कबीर ने अपने गुरु से प्राप्त किया परंतु उसमें अपनी गहन अनुभूतियों का मिश्रण कर उसे और भी पवित्र, मधुर एवं महत्वपूर्ण बना दिया। इस प्रकार कबीर की भक्ति-भावना परम्परा सिक्त होते हुए भी मौलिकता से युक्त है। नारद भक्ति सूत्र में भाव-भक्ति के ग्यारहों भेदों-गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति. तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति में कबीर ने कान्तासक्ति और परविर है-सक्ति की भावना को तो समाप्ति की ऊँचाई तक पहुँचा दिया। इस महान कार्य के लिए कबीर ने किसी वाह्य साधन की अपेक्षा न कर, मूल रूप से भाव-समर्पण पर ही बल दिया।

कबीर की प्रेम गद्गद, मौलिक भाव-भक्ति की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हुए डा० हजारीप्रसादद्विवेदी लिखते हैं—"कबीर दास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखण्ड, अविचलित विश्वास था, उसी ने

उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते, वे व्यर्थ ही पाण्डित्य-प्रदर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम-भक्ति का यह पौधा भावुकता की आंच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारापात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल भेदी अन्तस्तल से अपना रस-संचय करता है। न आंधी उसे उखाड़ सकती है न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है पर मस्ती है कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं हैं पर मौज है। विशृंखलता नहीं है, पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उदण्डता नहीं है पर अक्खड़ता है, इसकी प्रचण्डता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है। यह प्रेम बज्र से भो कठोर है, कुसुम से भी कोमल। इसमें हार भी जीत है और जीत भी जीत है।"

सचमुच कबीर की फक्कड़-मस्ती निराली है। इसी के अनुरूप उनका प्रेम भी निराला है। वे स्वयं को दुनिया के अन्य प्रेमियों से अलग ही रखते हैं। दुनियाँ के अन्य प्रेमी तो किसी दूर की वस्तु को पाने के लिए सिर धुनते हैं पर कबीर का प्रिय तो उनके सदा समीप रहता है। उसके लिए उन्हें सिर धुनने की आवश्यकता ही क्या है। वे अपने प्रिय से पूर्ण अद्वैतभावना का अनुभव करते हैं। यहो कारण है कि उनका प्रेम भी मस्ती से भरा है। उन्हें जैसे ही भाया उन्होंने प्रिय को मना लिया। इसके लिए उन्हें किसी स्वाँग की आवश्यकता नहीं पड़ी। जब प्रिय अपनी ही वस्तु है तो उसे पाने के लिए बाह्य साधनों को आवश्यकता ही नहीं है। कबीर कहते हैं—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहे आजाद या जग से हमन दुनिया से यारी क्या।

जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमन को इन्तजारी क्या।

खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है ।
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ।

कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से ।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ।

इस प्रकार कबीर प्रेम के मस्त मौला हैं । दुनिया के गोरख धंधों से उनका कोई सरोकार नहीं । अपने मन की मौज के मुताबिक ही उन्होंने अपने प्रिय के प्रति आन्तरिक भाव व्यक्त किए हैं ।

निष्कर्ष—अत्यन्त संक्षेप में उन्मुक्त भाव से अपने आराध्य निर्गुण राम के प्रति व्यक्त किये गये स्वच्छ भाव ही कबीर की भक्ति के प्रमुख आधार हैं । इसी कारण उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को भाव-भक्ति संज्ञा भी दी है । यह भाव-भक्ति नारदभक्ति-सूत्र की भाव-भक्ति से मेल खाते हुए भी उससे अलग मौलिक रूप में निर्मित है । इनकी भाव-भक्ति के प्रमुख तत्व हैं शरणा-गति, उन्मुक्तप्रेमोद्गार, विरह तथा अनन्यपरायणता आदि । अनन्य परायणता की भावना में तो कबीर वैष्णव भक्तों से भी आगे हैं । इनकी भक्ति के प्रमुख साधन हैं गुरुकृपा, नामस्मरण; सत्संगति तथा विविध विहित साधनों द्वारा मन और शरीर की शुद्धि । इन सब के पालन में भी कबीर ने स्वच्छन्दता बरती । उनके मत में प्रत्येक व्यक्ति सहज-रीति से जीवन यापन करते हुए, भक्ति का वरण कर सकता है ।

इस प्रकार कबीर की भक्ति का स्वरूप परम्परा सम्मत होते हुए भी अपनी मौलिकताओं से युक्त है । उनकी भक्ति वैष्णवों और सूफियों के समीप पहुँचते हुए भी उनसे पृथक है । कबीर किसी एक सिद्धान्त पर दृढ़ रह कर चलने वाले भक्त नहीं हैं । सिद्धान्तों से उन्हें चिढ़ सी है । इसलिए उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को यह छूट दी कि वह संयम करता हुआ अपने स्वयं के बनाये मार्ग पर चल कर ईश्वर की भक्ति करे । उन्होंने 'सहजा' भक्ति पर विशेष बल दिया । भक्ति के क्षेत्र में, उन्होंने किसी भी प्रकार के जप, तप का घोर विरोध किया । सहज

जीवन ताता बिहुआ व्यक्ति एकनिष्ठ होकर परमात्मा की भक्ति, हृदय और बुद्धि दोनों ही से करे, यही कबीर का मन्तव्य था। हाँ उन्होंने भक्ति के लिए ज्ञान को अवश्य आवश्यक बताया, क्योंकि ज्ञान-युक्त भक्ति ही आत्मा को परमात्मा के पद तक पहुँचा सकती है। कबीर ने भक्ति को किसी एक जाति या धर्म की वस्तु न बताकर प्रत्येक जाति और धर्म के लोगों को उसका अधिकारी बताया। उनके भक्ति संबंधी उद्‌गार व्यक्ति मात्र के हृदय के उद्‌गार हैं, उनका जाति या धर्म तथा सम्प्रदायगत मान्यताओं से कोई संबंध नहीं है। डा० त्रिगुणायत का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि "मध्ययुग की साधारण धर्म-प्राण जनता को सिद्धादि की विविध वीभत्ससाधनाओं के दल दल से तथा नाथों की नीरस यौगिक प्रक्रियाओं के पंकिलगर्त से बाहर निकाल कर भाव-भक्ति की अलौकिक एवं पावन पयस्विनी में अवगाहन कराने का पूर्ण श्रेय भक्त प्रवर कबीर को है।'

——❀——

६

कबीर का रहस्यवाद

जगत के परे रहने वाली अदृश्य शक्ति के साथ, जगत की दृष्ट वस्तुओं का संबन्ध स्थापन ही रहस्यवाद है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—साधनाक्षेत्र में जो ब्रह्मवाद हैं, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। दूसरे शब्दों में साहित्य के अन्तर्गत अपार और असीम शक्ति (ब्रह्म) की सत्ता का प्रतिपादन तथा प्रत्येक वस्तु में; उसके आभास का कथन रहस्यवाद है। साहित्य के क्षेत्र में रहस्यवाद के दो प्रमुख रूप बताये गये है (१) **भावनात्मक रहस्यवाद** तथा (२) **साधनात्मक रहस्यवाद**। कबीर की कविता में रहस्यवाद के इन दोनों ही रूपों का दर्शन किया जा सकता है।

(१)**भावनात्मक रहस्यवाद**—

भावनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत प्रकृति के कण-कण में व्याप्त अपरोक्ष सत्ता को जानने की अभिलाषा और फिर उससे मिलन की उत्कट इच्छा तथा विश्व की समस्त वस्तुओं से उसका ऐक्य-स्थापन आदि अनेकों बातें आती हैं। भावनात्मक रहस्यवाद की निम्न अवस्थाएँ होती हैं—

[क] **प्रारम्भिक अवस्था**—इस अवस्था में आत्मा ईश्वर की असीम सत्ता और उसके अनिर्वचनीय सौन्दर्य को देखकर चमत्कृत रह जाती है। सब कुछ देखते हुए भी वह उसके स्वरूप और सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर पाती। कबीर भी उस अपरोक्ष सत्ता के असीम सौन्दर्य और उसकी महत्ता से चमत्कृत होकर उसे अद्भुत की संज्ञा देते हैं—

ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ।
वेद कुरानौ गमि नहीं, कह्यो न को पतियाइ॥

ईश्वर अविगत अकथ एवं अनूपम है। देखते हुए भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह गूँगे की मिठाई है—

अविगत अकथ अनूपम देख्या कहताँ कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगै जानि मिठाई ॥

× ×

अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाई।
गूँगे केरी सरकरा बैठे मुसुकाई ॥

❀ ❀

सैना, बैना कहि समझाओं, गूँगे का गुड़ भाई।

इस प्रकार कबीर उस 'अद्भुत' सत्ता को सर्वथा अगम अगोचर एवं अकथ अनूपम बताते हैं। उसका अनुभव करते हुए भी, उसके अस्तित्व की रूप रेखा बता नहीं पाते।

[ख] दूसरी अवस्था—

अपरोक्ष सत्ता (ब्रह्म) के अद्भुत रूप से चमत्कृत आत्मा उसके ज्ञान और फिर उससे मिलन की अभिलाषा करती है। रहस्यवाद की इस अवस्था में आत्मा आशा-निराशा, विरह-मिलन तथा अभिलाषा और वेदना के बीच गोते लगाती रहती है। कबीर की कविता में रहस्यवाद की इस अवस्था की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। मिलन की उत्कण्ठा से उसकी राह देखते-देखते उनकी आँखों में झाई पड़ गयी, उसका नाम रटते-रटते जीभ में छाले पड़ गये, परन्तु उससे साक्षात्कार नहीं ही हो सका—

आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ॥

सभी ओर से निराश कबीर किसी उपकारी को सम्बन्धित कर उससे कहते हैं कि वह जाकर प्रिय को बताये कि बिना उसे देखे मेरे प्राण जा रहे हैं—

है कोई ऐसा पर-उपगारी
हरिसूँ कहे सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं,
बिनु देखे जिय जाइ रे॥

मिलन की उत्कण्ठा से व्यक्त की गयी निराशा भरी उक्तियों की बात कबीर की रहस्य-साधना से सम्बन्धित कविता में बहुतायत से मिलती है। ऐसे स्थलों पर भक्त कवि का निष्कपट प्रेम निवेदन अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावकारी है। कबीर ने अपनी आत्मा को विरहिणी स्त्री तथा परब्रह्म को प्रियतम मानकर मादन भाव या माधुर्यभाव की जो अभिव्यक्ति की है वह उनकी रहस्यवादी भावना की इसी अवस्था की प्रतीक है। ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए उनकी आत्मा उत्कंठित है परन्तु उससे साक्षात्कार न हो पाने के कारण वह तरह-तरह की आशाओं-निराशाओं तथा वेदनाओं का अनुभव करती है। परमात्मा का साक्षात्कार न होने से वह अत्यंत दुखी रहती है। उसे न बाहर सुख है न भीतर; न रात सुख है न दिन—

बासरि सुख ना रैन सुख, ना सुख सपने माहु।
कबीर बिछुड़या राम सूँ, ना सुख धूप न छाँह॥

परमात्मा के दर्शन के लिए लालायित आत्मा की आँखें नित्य खुली रहती हैं—

विरह कमण्डल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगे दरस मधूकरी, छके रहै दिन रैन॥

इस प्रकार रहस्यवाद की यह अवस्था, ईश मिलन की उत्कण्ठा और उसके न मिलने से होने वाली निराशा तथा तज्जन्य वेदना से ओत-प्रोत रहती है।

[ग] तीसरी अवस्था—

भावनात्मक रहस्यवाद की तीसरी अवस्था अत्मा और परमात्मा के मिलन की अभिब्यक्ति से संबंधित है। परमात्मा से मिलने के बाद आत्मा रूपी प्रिया अत्यन्य प्रसन्न होकर गा उठती है—

दुलहिन गावहु मङ्गलचार।
मोरे घर आये राजाराम भरतार।

परमात्मा से मिलकर आत्मा उसी के रङ्ग में रङ्ग जाती है—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गयी लाल ।।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर के काव्य में भावनात्मक रहस्य-वाद की अत्यंत मार्मिक व्यञ्जना हुई है। डा० त्रिगुणायत के शब्दों में—कबीर के काव्य में प्रेममूलक भावनाप्रधान रहस्यवाद का अनुभूतिमय प्रकाशन है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अनुभूति के आश्रय से होती है। अनुभूति भावना से सम्बन्धित है। भावना प्रेम की प्रधान प्रवृत्ति है। यह अनुभूति प्रेम पर अवलम्बित होने के कारण जीव और ब्रह्म में एक अविच्छिन्न और अनन्य सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्यप्रेम में देखी जाती है। अतः रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और विरहिणी के आश्रय में होती है।" कुछ विद्वान् कबीर के भावनात्मक रहस्यवाद पर सूफियों के प्रेम की झलक देखते हैं, परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। सूफियों की प्रेमपद्धति से कबीर की प्रेमचित्रण पद्धति सर्वथा भिन्न है। कबीर की प्रेम पद्धति विशुद्ध रूप से भारतीय है। इस पर किसी अन्य पद्धति का प्रभाव देखना अति-रंजना मात्र होगी।

(२) साधनात्मक रहस्यवाद—

कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद इनकी योगपरक उक्तियों, रूपकों तथा उलटवाँसियों में व्यक्त हुआ है। इस रहस्यवाद की प्रेरणा कबीर ने सिद्धों और नाथयोगियों से ली थी। इनका यह रहस्यवाद अत्यंत क्लिष्ट तथा परिभाषिक शब्दावली से युक्त है। कबीर की कविता का यही भाग सबसे गूढ़ माना जाता है। शरीर की आन्तरिक क्रियाओं, नाड़ियों षटचक्रों तथा अन्य विविध स्थितियों का चित्रण कबीर ऐसी शब्दावली में करते हैं जो पग-पग पर परिभाषा की अपेक्षा रखती है। 'सारी सृष्टि ब्रह्ममय है' इतनी सी बात को कबीर एक रूपक द्वारा व्यक्त करते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु तथ कथहु गियानी ।।

यहाँ कबीर उपनिषदों के रहस्यवाद के बहुत समीप हैं। नाथयोगियों की रहस्यवादी भावना से तो इनकी कविता भरी हुई है—

काहे रे नलिनी तू कुम्हिलानी,
तेरे ही नाल सरोवर पानी।

+ + +

झीनी-झीनी बीनी चदरिया

कबीर की उलटवासियाँ तो और भी गूढ़ रहस्य छिपाये हुए हैं—

है कोई गुरु ग्यानी जगत महँ उलटि वेद को बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँख न सूझै।
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता॥

+ + +

नैया बिच नदिया डूबल जाय।

+ + +

बरसै कम्बल भीगै पानी

आशय यह है कि कबीर की कविता में साधनात्मक रहस्यवाद की भी अत्युत्कट व्यंजना हुई है। इस रहस्यवादी भावना के लिए कबीर सिद्धों और नाथयोगियों के ऋणी हैं।

कबीर की कविता में व्यंजित रहस्यवाद के विविध रूपों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी साधना का प्रारम्भ कबीर से ही हुआ। वेदों और उन्हीं की परम्परा में विकसित उपनिषदों में रहस्यवाद की भावनाएँ बहुतायत से व्यंजित हैं; परन्तु साहित्य में इसका प्रथम प्रयोग कबीर ने ही किया। यद्यपि रहस्यवादी भावना सिद्धों और नाथों में भी मिलती है लेकिन उनका रहस्यवाद केवल साधना के क्षेत्र तक ही सीमित है। उनकी रचनाएँ साहित्यिकता से भी कोसों दूर हैं। कबीर के कविता के रहस्यवाद से सम्बन्धित अंश, काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भी उच्चकोटि के हैं। जिन आलोचकों ने कबीर को कवि मानने से ही इनकार कर दिया था, उन्होंने भी कबीर की कविता के रहस्यवाद प्रधान स्थलों को उच्चकोटि के कवित्व

से मन्डित बताया। कविता हृदय के सच्चे उद्गारों की अभिव्यक्ति है। कबीर के भावनात्मक रहस्यवाद से सम्बन्धित स्थलों पर उनकी प्रेमगदगद आन्तरिक भावनाएँ स्पष्ट होकर उद्भासित होने लगती हैं। परमात्मा के प्रेम में डूबा हुआ उनका स्वच्छ मन काव्यात्मक उक्तियों में लिपटकर सामने आ जाता है। ऐसे स्थलों पर अतीन्द्रिय श्रृंगार की व्यंजना तो अत्यन्त मधुर और हृदय के मर्म को छू लेने वाली है। परमात्मा रूपी प्रिय के प्रेम में व्याकुल कबीर की विरहिणी आत्मा अपने समस्त भावकोश को लेकर आत्मसमर्पणार्थ प्रस्तुत दिखायी देती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कबीर ने साहित्यिक स्तर पर जिन रहस्यवादी भावों की व्यंजना की वे नवीन होने के साथ ही अद्वितीय भी हैं।

—o—

७

कबीर की सामाजिक विचारधारा

दर्शन और धर्म के क्षेत्र में नवीन एवं मौलिक विचारधाराओं का पोषण करने वाले कबीर एक क्रान्तिकारी समाज सुधारक और युगद्रष्टा भी थे। उन्होंने युग की आवश्यकता के अनुसार तत्कालीन समाज में फैली कुरीतियों, अंधविश्वासों एवं बाह्याडम्बरों का घोर विरोध किया। कबीर ने सारे समाज को अपनी खुली आँखों से देखा। उस युग का समाज परम्परा-प्रचलित रूढ़ियों और दकियानूसी विचारधाराओं में डूबा हुआ था। कबीर ने इन सभी को अपने भयानक प्रहार का लक्ष्य बनाया। समाज की बुराइयों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया और विरोध प्रकट करने के साथ ही कबीर ने उस युग के दो विरोधी धर्मों तथा उनके अनुयायियों में समन्वय उपस्थित करने का भी प्रयास किया। समाज की कुरीतियों के प्रति तीव्र आक्रोश की भावना कबीर को सिद्ध और नाथयोगियों से विरासत में मिली थी। दो विरोधी धर्मों का एकत्रसमन्वय उनके युगद्रष्टा व्यक्तित्व के मौलिक चिन्तन का परिणाम था। ये दोनों ही उस युग की बहुत बड़ी आवश्यकताएँ थीं। फलतः कबीर ने दोनों को अपने भयानक प्रहार का लक्ष्य बनाया। प्राचीन मान्यताओं और धार्मिक दकियानूसी को समाप्त करने की दृष्टि से उन्होंने सर्वत्र खण्डनात्मक विचारधारा को ही प्रश्रय दिया। चाहे सामाजिक मान्यताएँ हों, चाहे धार्मिक, सभी का उन्होंने जोरदार शब्दों में खण्डन किया। उन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी की धारा में थोथे विचारों और आदर्शों की सारी कीचड़ को बहा डालने का प्रयास किया। आगे कबीर की समाजपरक और धर्मपरक खण्डनात्मक विचारधारा का विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।

कबीर की खण्डनात्मक सामाजिक विचारधारा—

कबीर जिस युग में हुए वह जटिल जाति बन्धनों, वर्ग विभाजनों तथा धार्मिक विरोधों का युग था। समाज में अछूतों और निम्नवर्ग के लोगों को कोई स्थान नहीं दिया जाता था। कबीर स्वयं ही ऐसे वर्ग से सम्बन्धित थे अतः उन्हें इन सब लोगों द्वारा भोगी जाने वाली यातनाओं का अच्छा अनुभव था। उनके अपने पंथ में भी ऊँच नीच और जाति-पाँति के भेदभाव की भावनाएँ फैली हुई थीं। कबीर ने सर्वप्रथम इन्हें ही मिटाने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं न वे छोटे हैं न बड़े हैं न ब्राह्मण हैं न शूद्र हैं और न मुल्ला हैं न पंडित है। उनकी तो स्पष्ट उद्घोषणा थी—

जाति पाँति पूछै ना कोई। हरि का भजै सो हरि का होई॥

कबीर ने जातिगत वंशगत, धर्मगत तथा सभी प्रकार के बन्धनों को तोड़ डालने का भरसक प्रयास किया। हिन्दुओं में ब्राह्मण जाति के लोग स्वयं को उच्च वर्ग का व्यक्ति बताते हैं, कबीर उनकी इस थोथी उच्चता एवं तथा कथित मात्र वैचारिक पवित्रता पर प्रहार करते हुए कहते हैं—

साधो पाँड़े निपुन कसाई
बकरी मारि भेड़ को धाये, दिल में दरद न आई।
गाय बधे सो तुरुक कहावे, यह क्या उनसे छोटे?
कहै कबीर सुनो भई साधो, कलि के बाम्हन खोटे।

इसी प्रकार उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बनारस के पुजारी पन्डों को ठग कहकर सम्बोधित किया। ब्राह्मण स्वयं को पवित्र समझ छुआछूत से दूर ही रहना चाहता है। ऐसा ब्राह्मण कबीर के भयानक प्रहार का लक्ष्य बनाता है। वे उससे पूछते हैं कि ईश्वर ने तो सभी को एक रूप बनाया है, यह छुआ-छूत कहाँ से आ गयी।

पंडित देखहु मन महँ जानी।
कहु धौं छूत कहाँ ते उपजी तबहि छूत तुम मानी।
बादे बंधे रुधिर के संगे, घटही महँ घट सपचै।
अष्ट कँवल होय पुहुमी आया छूति कहाँ ते उपजै।
लख चौरासी नाना बासन सो सभ सरि भौ माटी।

एकै पाट सकल बैठाये छूत लेत धौं काकी ।
छूतहि जेवन छूतहि अँचवन ,छूतहि जगत उपाया ।
कहहि कबीर ते छूत बिबरजित, जाके संग न माया ॥

ऊच–नीच छुआछूत आदि की भावना से परे कबीर का सीधा सा दृष्टिकोण था ।

'ऊँच नीच सम सरिया ताथै जन कबीर निस्तरिया ।'

अनेकों धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते हुए भी व्यक्ति यदि प्रेम का पाठ न पढ़ सका तो उसका पढ़ना लिखना व्यर्थ गया । ऐसे ही पठन-पाठन का कबीर कड़ा विरोध करते हैं । उनका तो एक ही विश्वास था समाज में सभी व्यक्ति बराबर हैं चाहे वे ब्राह्मण हों चाहे शूद्र । भेदभाव की भावना से युक्त व्यक्तियों से वे पूछते हैं—तुस किस प्रकार ब्राह्मण हो, हम किस प्रकार शूद्र; हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं, तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो । इस प्रकार कबीर ने समाज में फैली हुई और भी अनेकों कुरीतियों तथा ढकोसलों का डटकर खण्डन किया । जटिल जाति बन्धन और अंधविश्वासों के उस युग में कबीर की अमर एवं ओजस्विनी वाणी ने समाज को एक नवीन जीवन प्रदान किया । कबीर के इस महान् प्रयास की प्रशंसा करते हुए डा० शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं— "यह कहकर कि साँई के सब जीव हैं कीरी कुन्जर दोय" उन्होंने मानवमात्र की समानता का प्रचार किया और ईश्वर की धर्मोपासना के लिए सबके लिए समान अधिकार की माँग की । इस विराट जन आन्दोलन के सबसे प्रमुख और कृतीनेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा उसमें हमें उनके युग का पूरा रूप मिलता है और भविष्य के लिए एक जीवन संदेश भी । कबीर की यह मान्यता थी कि व्यक्ति समाज की इकाई है । समाज की सप्राणता और सुगठितता तभी निश्चित है जब कि जाति वर्ण वर्गभेद न्यून से न्यून हों । कबीर की साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है ।" सचमुच कबीर जिस युग में हुए उसका समाज विघटित एवं विशृंखलित था । दो परस्पर विरोधी धर्मों के आपसी संवर्ष ने एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पर्यात दूरी पर ला पटका था । क्या हिन्दू समाज क्या मुसलमान दोनों ही में अनेकों कुरीतियों, पाखण्डों, ढकोसलों एवं अन्धविश्वासों ने घर कर लिया था । इनके वशीभूत हो व्यक्ति समाज को

दिन प्रतिदिन जटिल बन्धनों से युक्त बनाता जा रहा था। कबीर एक व्यावहारिक व्यक्ति थे। स्थान-स्थान पर घूमकर उन्होंने समाज को दिन प्रतिदिन पतन की ओर जाती हुई प्रवृत्ति को अपनी खुली आँखों से देखा। एक क्रांतिकारी चिन्तक के रूप में कबीर ने समाज की इन सभी बुराइयों की कड़ी आलोचना की। कबीर की वाणी में सत्य का बल था फलतः जनता उनकी एक-एक बात का समादर करने लगी। कबीर तद्‌युगीन विघटित समाज के मसीहा बन गये। केवल उसी युग ने नहीं आगे आने वाले युग ने भी उनसे प्रेरणा ली। आधुनिक युग का धर्म एवं जातिबहुल भारत भी कबीर के कदमों पर कदम रख कर चला। इस युग के कर्मठ चिन्तक गान्धी तो कबीर के नवीन संस्करण ही मान लिये गये। कुल मिलाकर कबीर ने मध्ययुग के विकृत समाज को तो अपनी अमृतवाणी का पान कराकर उसका उपचार किया ही उन्होंने आगे आने वाले युग को भी एक जीवंत प्रेरणा प्रदान की।

कबीर की खण्डनात्मक धार्मिक विचारधारा—

कबीर ने अपने युग में फैली हुए समाज की कुरीतियों का खण्डन करने के साथ ही इसके दो महान् धर्मों की ढकोसलेबाजियों का भी जोरदार शब्दों में खण्डन किया। हिन्दू एवं इस्लाम दोनों ही धर्म उनके वाक्‌प्रहार के समान लक्ष्य बने। इन दोनों ही धर्मों में प्रचलित बाह्याडम्बरों एवं ढकोसलों की उन्होंने खुल कर बुराई की। एक ओर तो वे हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा पर प्रहार करते हैं दूसरी ओर मस्जिद की इबादत की भी कटु आलोचना करते हैं। उनका विश्वास है कि न तो हिन्दू को मूर्ति-पूजा करने से ईश्वर की प्राप्ति होगी और न मुसलमान को नमाज पढ़ने से। ये दोनों ही राह से भटके हुए हैं। कबीर कहते हैं—

> अरे इन दोउन राह न पाई।
> हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई॥

हिन्दू और तुर्क दोनों ही धर्म के बाहरी रूप को लेकर धमाचौकड़ी मचा रहे हैं। दोनों अपने-अपने धर्म की झूठी मान्यताओं को लेकर मरते हैं परन्तु धर्म के वास्तविक मर्म को जानते हीं नहीं—

> कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
> आपस में दोऊ लरि मूए, मरम न काहू जाना॥

ईश्वर तो एक ही है, चाहे राम कहिए चाहे रहीम चाहे ईश्वर कहिए

चाहे अल्लाह। भेद तो केवल नाम में है अन्ततः दोनों एक ही हैं। विविध धार्मिक मान्यताओं के आडम्बर में ईश्वर का वास्तविक रूप ही ढंक गया है। इसीलिए कबीर धर्म के बाह्याचारों को त्याग देने और मन में ही स्थित ईश्वर को पहिचानने की सलाह देते हैं। कबीर ने निष्पक्ष होकर हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों के बाह्याचारों की कटु निन्दा की। हिन्दू धर्म के धार्मिक ढकोसलों से सम्बन्धित उनकी कुछ उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

करसेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल।
पग तो पाला में गिल्या, भाजण लागी सूल॥
× × ×
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआ तो चहु दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥
× × ×
वैस्नौ भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइके, दग्ध्या लोक अनेक।

× × ×

तीर्थ और व्रत तो भ्रम हैं। ईश्वर इनमें नहीं है—

तीरथ बरत सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकदिया, कौण हलाहल खाइ॥

हिन्दू धर्म की पंथ एवं सम्प्रदायगत मान्यताओं की अवास्तविकताओं की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं—

ऐसा लोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥
महादेव को पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै॥
हाट-बजारे लावै तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब सुखदेव तोपची जोरी॥
नारद कब बंदूक चलाया। व्यास देव कब बंब बजाया॥
करहि लराई मति कै मन्दा। ई अतीत की तरकस बन्दा॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावै बाना॥
घोराघोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाय जस चलै ककोरा॥

इस प्रकार हिन्दू धर्म के थोथे बाह्याचारों एवं उसकी परम्परा प्रचलित दकियानूसी मान्यताओं की कबीर ने घोर निन्दा की । इसी के अनुरूप उन्होंने इस्लाम धर्म को भी बाह्याडम्बरों एवं ढकोसलों से ग्रस्त बताया । इस विषय से सम्बन्धित उनकी कुछ उक्तियाँ देखने योग्य हैं –

मुसलमानों के पाखंड की निन्दा करते हुए कबीर कहते हैं—

काँकर पाथर जोरि के मस्जिद लई बनाय ।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय ।।

× × +

यह सब झूठी बंदगी बिरिथा पंच निवाज ।
साँचे मारे झूठि पढ़ि, काजी करै अकाज ।

+ + +

काजी मुल्ला भ्रमिया चल्या दुनी के साथ ।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ ।।"

धर्म के ठेकेदार काजी की पोल खोलते हुए कबीर कहते हैं—

"कबीर काजी स्वाद बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साँचा होइ ।।

नित्य कतेब का पाठ करते हुए भी काजी महोदय को वास्तविकता का ज्ञान नहीं हुआ तो ऐसा पढ़ना ही ब्यर्थ हैं, इससे अच्छी तो कबीर की भक्ति भावना ही है । काजी झख हो मारता रहा और कबीर को वास्तविकता का ज्ञान हो गया । वे काजी से प्रश्न करते हुए कहते हैं—

काजी कौन कतेब बखानै ।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते गति एकै नाहि जानै ।।
सकति से नेह पकरि करि सूनति, यह बन्दू रे भाई ।
जौरे खुदाइ तुरक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई ।
हौ तो तुरक किया करि सुन्नति, औरति सों का कहिए ।
अधर सरीरा नारि न छूटे आधा हिन्दू रहिये ।

छाड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरो टेक कबीर भगति की काजी रहे झखमारी॥

हिन्दुओं के तीर्थव्रत की भाँति ही कबीर ने मुसलमानों के हज और काबे की भी निन्दा की। वे कहते हैं—

सेख सबूरी बाहिरा का हज काबे जाइ।
जिनकी दिल स्यावति नहीं तिनको कहा खुदाइ॥

इस प्रकार कबीर ने दोनों ही धर्मों के पाखंडों एवं बाह्याचारों की घोर निन्दा कर दोनों धर्मों के अनुयायियों को वास्तविक तथ्य से अवगत होने की सलाह दी। दोनों की भ्रान्तियों को मिटाते हुए वे बताते हैं कि हिन्दू या तुर्क जैसे भेद व्यक्ति के स्वनिर्मित भेद हैं। स्वयं ईश्वर ने तो दोनों को समान कर भेजा है। वे दोनों धर्मों के अनुयायियों का भ्रम मिटाते हुए कहते हैं—

अरे भाइ दोइ कहाँ से मोहि बतावो।
बिच ही भरम का भेद लगावो।
जोनि उपाइ रचि द्वै धरनी, दीन एक बीच भई करनी॥
राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई॥
कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोल निहारा तुरुक न हिन्दू॥

चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान दोनों एक ही धरती के निवासी हैं—

कोउ हिन्दू कोउ तुरुक कहावै एक जमीं पर रहिए।

परन्तु इन सब वास्तविक तथ्यों को भुलाकर दोनों धर्म के लोग राह से भटक गये हैं। यहाँ तक कि विरोध में भरकर उन्होंने परस्पर दया भावना को भी तिलांजलि दे दी है। मनुष्यमात्र क्या जीवमात्र दया का अधिकारी है। परमात्मा के इस अटल सिद्धान्त को दोनों ही धर्मों के लोगों ने भुला दिया है—

हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।
वो करै जिबह वो झटका मारै आगि दुओ घर लागी॥

कबीर ने स्पष्ट उद्‌घोषणा की कि मन्दिर या मस्जिद में भगवान या खुदा

का निवास नहीं रहता—वह बाहर संसार के कण-कण में विद्यमान है। कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही से प्रश्न करते हैं।

> जो खोदाय मसीत बसत है, और मुलुक केहि केरा ?
> तीरथ, मूरत राम निवासी, बाहिर केहिका डेरा ?

इन विभिन्न खण्डनात्मक उक्तियों के माध्यम से कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियों के धार्मिक आडम्बरों और उनके खोखलेपन की कटु निन्दा की और उन्हें यह बताने का प्रयास किया कि दोनों एक ही खुदा के बन्दे हैं। धर्म बाँटकर आपस में लड़कर मर जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। कबीर अपने इस प्रयास में बहुत कुछ सफल भी हुए। समाज में फैली हुई अनेकों कुरीतियों तथा उसके बाह्याडम्बरों के खण्डन का जो प्रयास उन्होंने किया, उसका समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव भी पड़ा। कबीर ने अपनी 'सहज-स्वाभाविक' 'बानी' का अधिकांश भाग तत्कालीन समाज की बुराइयों को दूर करने में ही व्यय किया। इसीलिए उनके व्यक्तित्व के 'कवि' या 'भक्त' पक्ष से 'समाज–सुधारक' पक्ष अधिक निखरा हुआ एवं महान् है। तत्कालीन, मर्यादा विघटित एवं अज्ञान के अंधकार में भटकते हुए समाज को 'कबीर' ने अपनी 'बानी' का प्रकाश प्रदान कर उसे पतन के गर्त में जाने से बचा लिया।

कबीर की खण्डनात्मक योगपरक उक्तियाँ—

कबीर जिस युग में हुए–वह युग सिद्ध और नाथपंथियों के यौगिक चमत्कारों से अत्यधिक प्रभावित था। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में कबीर भी इन यौगिक चमत्कारों के प्रभाव से ग्रस्त रहे। पर धीरे–धीरे उन्हें नीरस यौगिक साधना से विरक्ति होती गयी और वे इसके भी कट्टर आलोचक बन गये। इनकी इस आलोचना में कुछ सार भी है, क्योंकि इन्होंने योग की ऊबड़खाबड़ भूमि पर चलकर देखा था। 'कबीर' एक जनवादी चिन्तक थे। योगसाधना एक व्यक्तिगत साधना थी, इससे समाज के कल्याण की अधिक संभावना नहीं थी। फलतः कबीर ने इस मार्ग को भी अवास्तविकता से युक्त देखा। उन्हें इसमें भी बाह्याचारों और चमत्कारिक ढकोसलों की गन्ध मिली। उन्हें यह स्पष्ट उद्भासित हुआ कि योग साधनाओं से व्यक्ति का थोड़ी देर के लिए भले

ही शान्त रहे, पर इससे स्थायी शान्ति प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं। योगी जब साधनावस्था में रहता है तभी तक चित्तवृत्तियाँ सिमटी रहती हैं, पर जैसे हीं उसकी समाधि भंग होती है, उसका मन पुनः विषय विकारों की ओर भागने लगता है। इसीलिए कबीर ने जनमन हितकारिणी न मानते हुए, इसकी कड़ी आलोचना की और कठिन शारीरिक साधना के विपरीत मन की सहज साधना पर बल दिया।

कबीर की सभी खण्डनात्मक योगपरक उक्तियाँ अवधूत' को संबोधित कर की गई हैं। इन्होंने ऐसे स्थलों पर 'अवधूत' की ही भाषा में उसकी मान्यताओं का खण्डन करने का प्रयास किया है। 'अवधूत' शब्द का व्यवहार कबीर ने नाथपंथी, कनफटे योगियों के लिए किया है। इन योगियों के द्वारा, मन को मारने के लिए की जाने वाली काया साधना की खिल्ली उड़ाते हुए कबीर, इन्हीं योगियों की शब्दावली में इनके भ्रम को तोड़ने का प्रयास करते हैं। वे बताते हैं कि बाह्यवेश, सींगी, मुद्रा, कंथा आदि धारण करने से न तो मन को बस में किया जा सकता और न ही परमपद की प्राप्ति हो सकती है। परमपद की प्राप्ति तो वही कर पाता है जो सहज मार्ग पर चलकर मन को वश में करता है। कबीर कहते हैं—

> सो जोगी जाके मन मुद्रा । राति दिवस ना करई निद्रा ।
> मन मैं आसन मन मैं रहना । मन का जप-तप मन सूं करना ॥
> मन मैं खपरामन मैं सींगी । अनहद नाद बजावै रंगी ॥
> पंच परजारि भसम करि भूका । कहै कबीर सो लहसै लंका ॥

यहां योगियों के सभी बाह्य—लक्षण व्यर्थ बताये गये हैं। केवल मन की साधना वह भी सहज मार्ग पर चलकर—श्रेष्ठ बतायी गयी है। योगी तो काया को कष्ट देता है, काया कष्ट में मन को शान्ति कैसे मिलेगी।

संक्षेप में कबीर ने योगमार्ग पर चलकर, मन को साधने के बजाय उसे मारने की भावना का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। खण्डन के इन स्थलों पर कबीर की शब्दावली भी नाथ पंथी हठयोगियों की शब्दावली से मिलती—

जुलती हुई है। अवधूत योगियों की खिल्ली उड़ाने के साथ ही उन्होंने शैव और शाक्त योगियों की भी खूब हँसी उड़ायी है। योग की अतल गहराइयों में उतर कर कबीर ने उसकी वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर लिया था यही कारण है कि वे योग की कटु आलोचना करते देखे जाते हैं।

निष्कर्ष—

ऊपर कबीर की खण्डनात्मक विचारधाराओं का विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इसे देखते हुए 'कबीर' के क्रान्तिदर्शी व्यक्तित्व की कुछ थाह लगायी जा सकती है। कबीर जैसे सशक्त व्यक्तित्व साहित्य के इतिहास में बिरले हैं। आश्चर्य तो यह है कि कबीर मध्यकाल के साम्प्रदायिकता से ग्रस्त समाज में, उसके विपरीत इतना विष उगलते हुए भी बच कैसे गये? वास्तव में उनकी वाणी में सत्य का बल था, और सत्य की उपासना करने वाला व्यक्ति कभी भौतिक बाधाओं की चिन्ता नहीं करता। कबीर ने जन-जन के कान में सत्य का मंत्र फूंकने का व्रत लिया था, उनका कार्य-क्षेत्र सामान्य जन-जीवन था, वे सम्भवतः धर्म के ठेकेदारों और सम्प्रदाय के संस्थापकों से दूर ही रहे, वरना, सिकन्दर लोदी जैसा कट्टर मुसलमान उनके द्वारा की गई रोज़े व नमाज़ को बुराइयों को सहन कैसे करता। कुछ भी हो, कबीर ने अपने युग के लिए, जो भी किया, वह पूरे इतिहास में बेजोड़ है। कबीर की ही भाँति मध्यकाल में तुलसी का व्यक्तित्व महानता से मण्डित है, परन्तु उनका क्षेत्र केवल हिन्दू धर्म तक सीमित है। कबीर की भाँति उनकी वाणी में उग्रता नहीं है। वे सन्तों और सज्जनों की वन्दना साथ-साथ कर लेते हैं क्रोध की बात को भी नीतिपरक उपदेशों के रूप में कह देते हैं। परन्तु कबीर अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कह देने वाले चिन्तक हैं, इसे भी वे पीठ पीछे नहीं, मुँह पर ही कह देना जानते हैं। उनका अपना कोई नहीं है, और सभी अपने हैं। उनका न कोई धर्म है, न जाति है, न सम्प्रदाय है और न ही कोई दृढ़ मान्यता। अवसर देखकर साफ बात कह देना उनकी आदत है। यही कारण है कि उस धर्मान्ध एवं जटिल बन्धनों से ग्रस्त समाज ने भी उनकी कद्र की। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रचण्ड है। उनके जीवन में कुछ भी सीधा नहीं है, सभी कुछ उलटा है, पर इस उलटे

को सीधा बना देने की शक्ति भी उनमें खूब है। सभी प्रचलित मान्यताओं का खण्डन ही उनका लक्ष्य है। इसके बदले किसी मान्यता का मण्डन या पोषण उन्हें अभीष्ट ही नहीं। वे किसी भी बात को सीधे, बिना किसी लाग-लपेट के कह जाते हैं। सुनने या समझने वाला क्या समझता है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। चिन्ता हो भी क्यों? वे अपनी कोई बात तो किसी से मनवाना नहीं चाहते। इस प्रकार जीवन पर्यन्त कबीर ने खुलकर अपने मन के सच्चे उद्गारों की अभिव्यक्ति की। चापलूसी उनके स्वभाव में थी ही नहीं। सत्य का अन्वेषी चिन्तक, जीवन भर सत्य का अस्त्र चलाता रहा, इसके आघात से कितनी धार्मिक, सामाजिक या सम्प्रदायगत मान्यताओं की क्षति हुई, इसकी चिन्ता उसने कभी नहीं की। हाँ, आगे आने वाले चिन्तकों की पीढ़ी ने उसके ध्वंस को अवश्य महत्वपूर्ण माना। उसने उसी ध्वंस पर पुनः मानवता का रमणीक भवन निर्मित किया। यदि कबीर जैसा विध्वंसकारी सशक्त, व्यक्तित्व उसका पूर्व पुरुष न होता तो सम्भवतः आज का युग गान्धी जैसे व्यक्तित्व से वंचित रह जाता। कबीर ने जो कार्य आग बरसाकर किया था, गांधी ने वही कार्य अमृत-वर्षा के माध्यम से किया। कार्य एक ही है, उसका फल भी एक ही है, पर दोनों की प्रणाली अलग रही। और इसका प्रमुख कारण था दोनों का व्यक्तित्व। एक ज्वालामुखी था, दूसरा शान्त समुद्र। भारत जैसे साम्प्रदायिकता से ग्रस्त देश के लिए कबीर जैसे सशक्त व्यक्तित्व का महत्व अक्षुण्ण रहा है, और आगे भी रहेगा।

८

कबीर का कवित्व

एक लम्बे अर्से तक हिन्दी के विज्ञ आलोचकों ने कबीर को कवि नहीं माना उनका दृढ़ मन्तव्य रहा कि कविता करना कबीर का उद्देश्य ही नहीं था। वे भक्त और साधक थे कवि नहीं। ऐसे आलोचकों की दृष्टि कविता में केवल रस छंद और अलङ्कार की चकाचौंध से धुधलायी हुई थी। यह सब कबीर के काव्य में न पाकर वे उन्हें कवि स्वीकार करने को तैयार ही नहीं थे। यह ठीक है कि कबीर ने अपनी कविता का अधिकतर भाग समाज-सुधार सम्बन्धी उपदेशों और योगपरक भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में लगाया परन्तु इसके साथ ही उनकी कविता में ऐसे भी स्थल हैं जहाँ उनका उत्कट कवित्व व्यक्त हुआ है। इनकी समाज-सुधार एवं योग से सम्बन्धित उक्तियाँ भी कवित्व से रहित नहीं हैं। परन्तु इनकी भक्ति-भावना के स्थल तो निश्चित ही उच्चकोटि के कवित्व से युक्त हैं। जब वे भाव-विभोर होकर परमात्मा के प्रति अपनी अटूट प्रेममयी भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं तो कवित्व स्वतः उनका अनुसरण करने लगता है। इतना तो निश्चित है कि कबीर ने अपने भावों की अभिव्यक्ति, परम्परा की बनी-बनायी लीक पर चलकर नहीं की, फिर भी उनके काव्य में भावात्मक स्थलों का अभाव नहीं है। इन भावात्मक स्थलों में रस, छन्द, अलंकार, रीति आदि का प्रयोग भले ही न हो, पर इससे इनकी प्रभावात्मकता में कोई अन्तर नहीं आता। यदि वैष्णव भक्त कवियों के काव्य का प्रभावमयता के आधार पर उच्चकोटि का काव्य माना जा सकता है, तो कबीर के काव्य को भी उच्चकोटि के कवित्व से मंडित माना जाना चाहिए। किसी भी कविता की श्रेष्ठता की सच्ची कसौटी भावमयता होनी चाहिए, न कि छंद, अलंकार, रीति, गुण आदि।

कबीर की कविता अनुभूति की तीव्रता और अन्तर्मन की गहराई से युक्त है। बनावटीपन से कबीर को चिढ़ थी। पारम्परिक लीकों को तोड़ना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। कविता करने के लिए उन्होंने अपने भाव व्यक्त ही नहीं किये। वे काव्य-तत्वों के गुलाम नहीं, काव्य-तत्व भले ही उनका अनुसरण करें। पारम्परिक लीकों पर जलकर कविता करने के लिए एक सुस्थिर एवं व्यवस्थित भाषा की आवश्यकता होती है। कबीर की भाषा का भी कोई निश्चित रूप नहीं। वे जहाँ जाते वहीं की भाषामें अपने आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति करते थे। अनुभूतिमयी कविता की जितनी भी गहराई हो सकती है, कबीर की कविता में मिल जाती है। यह ठीक है कि उन्होंने 'मसि कागद' नहीं हुआ था, मोटे-मोटे ग्रंथों का अध्ययन करते ही तो कैसे? परन्तु उन्होंने जो कुछ भी कहा अपने गम्भीर अनुभव और आँखिन की देखी के आधार पर कहा अतः उनकी कविता स्वतः ही अति गम्भीर और अनुभूतिमयी हो गयी है। कबीर को कवि के रूप में न स्वीकार करने वाले आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी यह तो स्वीकार ही कर लिया कि "प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर जी इसमें कोई संदेह नहीं।" जिसमें प्रतिभा हो उसे कवि या साहित्यिक न स्वीकार किया जाये, इसे तो मात्र साहित्यिक दिवालियापन ही कहा जाना चाहिए।

जहाँ तक कबीर की कविता में बने-बनाये पारम्परिक काव्य के ढाँचों का प्रश्न है वे भी ढूढ़े जा सकते हैं। उनके रूपकों उलटवासियों तथा अन्य योगपरक कथनों तथा भक्ति के पदों में रूपक और उपमा प्रभृति अन्यानेक अर्थालकारों का प्रयोग दुर्लभ नहीं है। आखिर एक स्तर पर अलङ्कार कही जाने वाली उक्तियाँ भी तो अभिव्यक्ति पद्धतियाँ मात्र हैं। कबीर की कविता में ये अभिव्यक्ति पद्धतियाँ स्वतः ही आ गयी हैं। कबीर कहीं भी उन्हें घसीटकर लाने का प्रयास नहीं करते। यही स्थिति अन्य काव्यांगों की भी है। पारम्परिक रीति से देखने पर भी कबीर की कविता सुन्दर प्रतीकों, अन्योक्तियों, समासोक्तियों रूपकों, उलटवासियों आदि के वैभव से युक्त है। इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। परन्तु कबीर ने इन तत्वों को कहीं भी प्रधानता नहीं दी उनकी कविता सर्वत्र भाव प्रधान एवं भावात्कक संदेश प्रधान ही रही है। जहाँ तक काव्यत्व का प्रश्न है कबीर ने कहीं भी उसका अनुसरण नहीं किया वह

स्वयं ही उनका अनुगमन करता है। कबीर को एक ऊँची चोटी का कवि स्वीकार करते हुए डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलङ्कार के आधार पर काव्य-रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छन्द और अलङ्कार गौण हैं संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है। उस संदेश के प्रकट करने का ढङ्ग अलङ्कार से युक्त होते हुए भी काव्यमय है।"

कबीर की कविता का उद्देश्य—समाज की मंगल भावना—

भारत में काव्य-कला के उदयकाल से ही उसका उद्देश्य समाज की मगल भावना का चिन्तन रहा है। प्रारम्भ से ही कवि का व्यक्तित्व सामाजिक दृष्टि से एक क्रान्तिदर्शी का व्यक्तित्व रहा है। समाज की आवश्यकताओं को दृष्टि-कोण में रखकर ही वह अपने भव्यकाव्यजगत का निर्माण करता आया है। यह बात तो अब तक के काव्य-ग्रंथों से सिद्ध ही हो चुकी है कि समाज में नीति और आचार की भावनाओं का प्रसार जितनी सरलतापूर्वक काव्य-रचनाओं के माध्यम से किया जा सकता है अन्य किसी माध्यम से नहीं। जैसे पत्नी पति को अत्यन्त कोमल ढङ्ग से किसी बात की शिक्षा देती है, उसी प्रकार काव्य-रचनाएँ भी व्यक्ति के मर्म में पैठकर उसे सदाचार एवं नीति तथा कृत्याकृत्य का विवेक देती है। इन सभी दृष्टियों से यदि कबीर की कविता को देखा जाये तो वह श्रेष्ठ कविता सिद्ध होगी। कबीर की कविता में समाज के मंगल की भावना पग-पग पर बिखरी हुई देखी जा सकती है। कबीर की कविता युग की माँग थी, ऐसे युग की, जो धर्म और सम्प्रदायों के अँधेरे में भटक रहा था। कबीर ने अपनी ओजस्विनी वाणी के प्रकाश में उसे सही मार्ग दिखाया। धार्मिक आडम्बरों एवं साम्प्रदायिक वितण्डावादों के विवर्त में फँसा हुआ तत्कालीन व्यक्ति का मन जितनी शान्ति कबीर की खंडनात्मक बानियों में पासका उसे अन्य किसी कवि की वाणी में नहीं मिली। यदि युगीन परिवेश और कविता के उद्देश्य को देखा जाये तो कबीर एक कवि ही नहीं महाकवि ठहरेंगे।

कुछ आलोचकों ने कबीर की कविता को कविता न मानकर उसे ऊँट-पटाग उक्तियाँ मात्र मान कर छोड़ दिया। उन्होंने अपनी इस मान्यता के केन्द्र

में न तो युगीनपरिवेश को रखा और न ही कविता के मूल उद्देश्य की ओर देखा। उन्होंने कविता के बाह्यआवरण अलंकार, छन्द, रीति आदि को ही ध्यान में रखा और कबीर की कविता में इन्हें न पाकर उन्हें, कवि ही नहीं माना वे काव्य की मूल आत्मा को भूल बैठे और काव्यगत कृत्रिम आत्मा रस की खोज करते रहे। अपने स्थान पर ये आलोचक भी ठीक ही हैं, काव्यशास्त्रीय चमत्कारों से धुँधलायी हुई उनकी दृष्टि ऊपर ही अटक कर रह गयी है। वे कबीर की कविता के मूलभावों और उनके सृजन में निहित प्रेरणा के मूलतक पहुँच ही नहीं सके। और अधिक आश्चर्य तब होता है, जब कबीर से भी कहीं अधिक सीमित क्षेत्र में काम करने वाले कवि महाकवि मान लिये गये और इन महाकवियों के भी पथ-प्रदर्शक कबीर को कवि न मानते हुए छोड़ दिया गया। समाज के मंगल की भावना को ध्यान में रखते हुए आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी और सूर को महाकवि घोषित कर दिया। परन्तु कबीर उनकी इस कृपा के बाहर ही रहे। कबीर का महत्व तो आज के युग में आँका गया। आज कविता के प्रतिमान बदल गये हैं। प्रत्येक कवि की कविता को युगीन परिवेश की दृष्टि से परखा जाने लगा है। इस दृष्टि से देखने पर कबीर तुलसी और सूर से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण दिखायी पड़ते हैं। समाज के मंगल एवं हितचिन्तन की भावना जितने विशद रूप में कबीर की कविता में निबद्ध की गयी है अन्य किसी कवि की कविता में नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि अन्य कवियों ने समाज की समस्याओं का चित्रण पारम्परिक आदर्शवादी दृष्टिकोण से किया, परन्तु कबीर ने सभी समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखा और समाज के सड़े गले अंगो को काट फेकने का भी प्रयास किया। वे एक कर्मठ चिन्तक थे। समाज की बुराइयों की ओर संकेतमात्र न कर वे उन्हें समूल विनष्ट कर देने का उपाय भी बताते हैं। आज के साम्प्रदायिकता ग्रस्त भारत में कबीर जैसे यथार्थवादी चिन्तक का महत्व बढ़ता जा रहा है। मध्यकाल की भाँति आज के युग को भी कबीर जैसे चिन्तकों की ही आवश्यकता है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कबीर की कविता एक सत् उद्देश्य को लेकर निर्मित हुई और उसने पग-पग पर समाज के मंगल की भावना का चिन्तन किया। अतः कबीर को एक युगचेता महाकवि स्वीकार कर लेने में किसी

को भी हिचक नहीं होनी चाहिए। जहाँ तक कबीर की कविता में निहित काव्य के बाह्यतत्वों का प्रश्न है, उनकी भी कमी नहीं है। वे सभी तत्व भी कबीर की कविता में ढूढ़ने से मिल अवश्य जायेगे, पर कबीर ने उन्हें कहीं भी सप्रयास लाने का प्रयत्न नहीं किया है।

कबीर की काव्याभिव्यक्ति पद्धतियाँ

किसी बनी बनायी पारम्परिक लीक पर चलकर कबीर की कविता में काव्यांगों का अन्वेषण कर पाना एक दुरूह एवं अटपटा कार्य है, फिर भी उनकी कविता काव्य के बाह्य उपादानों रस, अलङ्कार, रीति आदि से रहित नहीं है। कबीर एक आध्यात्मिक कवि हैं। एक लौकिक कवि की भाँति वे अपनी कविता में बाह्यचमत्कार पर बल न देकर, उसके आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देते हैं। कबीर की कविताके कला-पक्ष का अध्ययन स्वतन्त्र रीति से करना ही उपयुक्त होगा। कलात्मक दृष्टि से कबीर की कविता के दो पक्ष किये जा सकते हैं। एक तो है उनकी कविता का मूल विषयभूत आध्यात्मिक पक्ष और दूसरा है, प्रथम पक्ष की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहार में लाया गया, अभि-व्यक्ति पद्धतियों से सम्बन्धित पक्ष।

इनके काव्य के प्रथमपक्ष में उनकी आत्मा की सुहावनी अभिव्यक्ति मिलती है। यहाँ उनकी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की भावमयी अनुभूतियाँ अपना भव्यरूप प्रदर्शित करती देखी जा सकती हैं उनका काव्य लौकिक आनन्द से परे अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति है। आत्मा और परमात्मा के मधुर संबंधों की रहस्यात्मक स्तर तक पहुँची हुई मनोरम अभिव्यक्ति लौकिक आनन्दानुभूतियों का स्मरण ही नहीं होने देती। कबीर के काव्य में काव्यगत रसों का चित्रण न सही वह उन्हें अभीष्ट भी नहीं है, वे तो रामरसायन के प्रेमी हैं, और इसके समक्ष उनके लिए सभी लौकिक रस फीके हैं। अन्य लौकिक रस एवं काव्यगत रस तो क्षणिक तृप्ति देने वाले होते हैं, परन्तु कबीर का रामरसायन इतना अद्-भुत है कि इसे पीते ही व्यक्ति की समस्त भावनाएँ, कामनाएँ, तथावासनाएँ सदैव के लिए तृप्त हो उठती हैं। मनुष्य जीते हुए ही निर्वाण अथवा परमानन्द या परमपद की स्थिति प्राप्त कर लेता है। ऐसे अद्भुतप्रभावकारी रस का चित्रण

छोड़ कबीर अन्य लौकिक रसों के चित्रण की ओर जाते भी तो क्यों ? कबीर ने जीवनपर्यन्त इसी रस का स्वाद लिया और दूसरों को भी इसी में आनन्द मग्न हो जाने की प्रेरणा दी। कुल मिलाकर कबीर ने काव्यगत रसों का चित्रण न करते हुए भी, उनके मूल का चित्रण कर दिया। वे एक आध्यात्मिक कवि थे। उन्होंने लौकिक कविता के प्रतिमानों का भी व्यवहार किया, पर अपने अध्यात्म पक्ष को स्पष्ट करने के लिये ही। कहीं भी उनकी दृष्टि काव्यगत चमत्कारों की ओर नहीं रही। उनके स्वच्छन्द एवं प्रेम रस से सराबोर भावों की अभिव्यक्ति में काव्य के बाह्य उपकरणों का प्रयोग स्वतः हो गया है। जो लोग अलङ्कार आदि के प्रयोग की दृष्टि से कबीर की कविता को देखना चाहते हैं, उन्हें भी निराश न होना पड़ेगा। इन सब उपकरणों का प्रयोग कबीर की कविता में अनजाने ही हो गया है नीचे कबीर की कविता के द्वितीय पक्ष (अभिव्यक्तिपक्ष) का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

कबीर की कविता में अभिव्यक्ति के विविध प्रसाधन।

प्रतीक योजना यह पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर की कविता की मूलभावना ईश्वरीयप्रेम की अभिव्यक्ति है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने विविध प्रतीकों की आयोजना की। इसी ईश्वरीय प्रेम को वे कहीं माता-पिता और पुत्र के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति देते हैं, कहीं दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक द्वारा आराध्य के प्रति अपना अटूट सम्बन्ध व्यक्त करते हुए कबीर स्वयं को बालक और आराध्य को जननी तथा कहीं-कहीं आराध्य को पिता और स्वयं को पुत्र रूप में कल्पित करते हैं। इस सम्बन्ध में इनकी दो उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"हरि जननी मै बालक तोरा।"

× × ×

"पिता हमारो बड़ु गोसाई।"

कबीर के दाम्पत्य प्रतीक तो अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। वे अपनी आत्मा को प्रिया और परमात्मा को प्रिय मानकर जिस मादनभाव की अभिव्यक्ति करते है, वह पूरे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। इस भाव की अभिव्यक्ति सूफी सन्तों ने भी की, परन्तु अभारतीय होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति उतनी मनोरम नहीं बन सकी जितनी कबीर की। दाम्पत्य प्रेम के अंतर्गत कबीर द्वारा अभिव्यक्त की गयी मिलन और विरह की अनुभूतियाँ अत्यन्त मनोरम बन पड़ी

हैं। कबीर का दाम्पत्य प्रेम अत्यन्त पवित्र एवं प्रांजल है। उनका प्रेम विवाहिता पत्नी के समान पवित्र प्रेम है। कबीर ने अपनी आत्मा रूपी स्त्री का परमात्मा रूपी पुरुष के साथ विधिवत शास्त्रीय विवाह सम्पन्न किया है। उनकी आत्मा रूपी वधू और राम रूपी वर के विवाह में ब्रह्मा जी पुरोहित हैं, शरीर ही वेदिका है, तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हजार ऋषियों ने विवाह को बरातियों के रूप में देखा है। सभी तरह से यह विवाह आदर्श एवं दृढ़ है। इसीलिए कबीर ने इस पवित्र सम्बन्ध की तुलना में सती और सूरा के प्रेम की चर्चा की है। परमात्मा के साथ पवित्र विवाह सम्बन्ध में बँधी हुई उनकी आत्मा रात-दिन उसी के मिलन और विरह के भावों में गोते लगाया करती है। कभी वह हरि से मिलने के लिये विविध शृंगार सज्जा करती देखी जाती है, कभी प्रिय के साथ एक ही सेज पर सोने की स्थिति का आनन्द लेती हुई और कभी प्रिय के साथ मिलन की प्रतीक्षा में खड़ी-खड़ी एक टक राह निहारती हुई दिखायी पड़ती है। इस प्रकार कबीर की दाम्पत्यप्रेमभावना अत्यन्त पवित्र एवं लौकिकता का सहारा लेते हुए भी अलौकिकता की भावना से मंडित है। कबीर की कविता के ऐसे स्थल स्वतः कवित्व पूर्ण हो गये हैं।

मानवीय सम्बन्धों के प्रतीकों के साथ ही कहीं-कहीं कबीर ने स्वयं का और अपने आराध्य का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए मानवेतर पशु-पक्षियों के प्रतीकों का भी व्यवहार किया है। स्वयं को पूर्णतया राम के अधीन एवं क्षुद्र बताने के लिए वे खुद को गोरू (पशु) और राम को ग्वाल बताते हैं इसी प्रकार अपने दैन्य तथा अपनी निकृष्टता की अभिव्यक्ति के लिए वे अपने को राम का कुत्ता तक कह देते हैं। ऐसे प्रतीकों का व्यवहार वे प्रायः अपनी निरीहता, जड़ता, अज्ञानता एवं परवशता आदि का द्योतन करने के लिए करते हैं।

इन प्रतीकों के अतिरिक्त कबीर की कविता में और भी कई प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। डा० त्रिगुणायत ने इन प्रतीकों को चार वर्गों में विभाजित किया है—

(१) सांकेतिक प्रतीक।

(२) पारिभाषिक प्रतीक।

(३) संख्यामूलक प्रतीक ।
(४) रूपकात्मक प्रतीक ।

इन सभी प्रतीकों की आयोजना कबीर की योगपरक काव्याभिव्यक्ति के अन्तर्गत हुई है । हठयोग की क्रियाओं को स्पष्ट करने के लिये कबीर ने नाथ पंथ में प्रचलित प्रतीकों ब्रह्मरंध्र बंकनाल आदि का व्यवहार किया है । इसी प्रकार के और भी अन्यानेक योग संबन्धी सांकेतिक प्रतीक पग-पग पर बिखरे हुए देखे जा सकते हैं । पारिभाषिक प्रतीकों के रूप में गंगा, यमुना, बालरंडा, चन्द्र, सूर्य, सुन्नमहलिया आदि शब्दों को लिया जा सकता है । इनमें गंगा शब्द का व्यवहार इड़ा नाड़ी के लिए, यमुना का व्यवहार पिंगला नाड़ी के लिये बालरंडा का कुन्डलिनी शक्ति के लिए चन्द्र का सहस्रार के अमृत तत्व के लिए तथा सूर्य शब्द का व्यवहार नाथपंथियों के मूलाधार के लिए किया गया है । पारिभाषिक प्रतीकों के कारण ही कबीर की कविता कहीं-कहीं अत्यंत क्लिष्ट हो गयी है । इनकी उलटवासियाँ विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दावली से युक्त हैं । जब तक इनमें व्यवहृत शब्दों की परिभाषा न ज्ञात हो, इनका अर्थ जान पाना अत्यंत दुरूह कार्य है ।

कबीर की कविता के संख्यामूलक प्रतीक भी परिभाषा की अपेक्षा रखते हैं । ये प्रतीक भी उनकी योग-भावना से ही संबद्ध हैं । ऐसे प्रतीकों में चौसठ-दीया, चौदहचंदा आदि विशेष प्रसिद्ध हैं । चौदह शब्द १४ विद्याओं का तथा चौसठ शब्द ६४ कलाओं का प्रतीक है । इसी प्रकार कबीर ने किसी तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए की गयी रूपक योजना के बीच रूपकात्मक प्रतीकों की भी आयोजना की है । इनकी चर्चा इनके रूपकों के संदर्भ आगे की जायेगी ।

इस प्रकार कबीर की कविता का चप्पा चप्पा सुन्दर प्रतीकों की योजना से युक्त है । इन प्रतीकों को देखते हुए कबीर की कविता को घटिया किस्म की कविता कहना, तथ्य तो नहीं, बौद्धिक दिवालियापन अवश्य कहा जायेगा । ध्यान से देखने पर कबीर की विद्रूप कविता भी अपने अन्तराल से एक सुन्दर अर्थ का विस्तार करती है । कबीर की ऐसी उक्तियाँ जिन्हें आलोचकों ने निरर्थक एवं दुरूह मानकर कविता कहने से ही इनकार कर दिया उनमें भी श्रेष्ठ आध्यात्मिक अर्थ छिपा हुआ देखा जा सकता है । कबीर की कविता के ऐसे स्थल

उच्चकोटि की प्रतीक योजना से युक्त हैं। इस कोटि की कविता में उनकी उलटवाँसियाँ आती हैं। इनका भी संक्षिप्त परिचय दे देना अनुपयुक्त न होगा।

कबीर की उलटवाँसियाँ—

अलङ्कार प्रयोग की दृष्टि से कबीर की कविता को हल्की समझना भी उपयुक्त नहीं है। इनकी उलटवासियों में विरोध मूलक अलङ्कारों का प्रयोग अत्यन्त सराहनीय है। कबीर की उलटवासियाँ अधिकांश रूप में आध्यात्मिक उक्तियाँ हैं। इनमें कबीर की उलटि वेद को बूझै की भावना निहित है। आध्यात्मिक तत्वों को विभावनात्मक तथा विरोधात्मक कथनों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने की परम्परा वेदों, उपनिषदों आदि में भी मिलती हैं। बज्रयानी सिद्धों की उक्तियों का तो अधिकाँश भाग इस प्रकार की अटपटी उक्तियों से युक्त है। कबीर ने उलटवासियाँ कहने की प्रेरणा इन्हीं सिद्धों से ग्रहण की थी इनमें बिल्कुल उलटे ढंग से कही जाने वाली बातों में भी एक रहस्यात्मक गूढ़ अर्थ छिपा रहता है। यह अर्थ प्रायः अध्यात्म चिन्तन से ही संबद्ध होता है।

डा० त्रिगुणायत कबीर की उलटवासियों को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—

(१) अलंकार प्रधान।
(२) अद्भुत प्रधान।
(३) प्रतीक प्रधान।

इनकी अलंकार प्रधान उलटवासियों में विरोधमूलक अलंकारों का चमत्कार सर्वत्र देखा जा सकता हैं। इनमें काव्य के प्रसिद्ध विरोधमूलक अलंकारों—विभावना, विशेषोक्ति, असंभव, असंगति, विषम, विचित्र, अधिक, विरोध, विरोधाभास, व्याधान, आदि का प्रयोग हुआ है। इन अलंकार प्रयोगों में व्यंजना प्रधान चमत्कार ही प्रमुख है। इनकी अर्थगत रमणीयता का तो कहना ही क्या इन उक्तियों में निहित अलंकार प्रयोगों को देखते हुए कबीर की कविता को श्रेष्ठ कविता न कहना अनुपयुक्त ही होगा। इनकी उलटवासियों में कुछ विरोध मूलक अलंकारों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

'आकासे मुख औधा कुआ पाताले पनिहार।'

—विषम अलंकार।

❀ ❀ ❀

'कमल जे फूले जलहू बिन ।'

—विभावना

❀ ❀ ❀

आगमिबेलि अकास फल अरग व्यावर का दूध ।

—असंगति ।

कबीर की कुछ उलटवासियों में अद्भुत रस का सुन्दर प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर अर्थगत चमत्कार सर्वत्र देखा जा सकता है। कुछ आचार्यों ने तो चमत्कार को ही काव्य का श्रेष्ठ तत्व माना और इसी आधार पर अद्भुत रस को सभी रसों में प्रमुख स्थान दिया। इस दृष्टि से देखने पर कबीर की कविता के ये स्थल उच्चकोटि की काव्यात्मकता से युक्त माने जा सकते हैं। कबीर की इस वर्ग की उलटवासियों में अद्भुत रस के अन्तर्गत विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त सराहनीय है। सुन्दर प्रतीकों की आयोजना भी ऐसे स्थलों की विशेषता है, परन्तु अलंकार और प्रतीक गौण ही रहते हैं, प्रमुख अद्भुत रसजन्य चमत्कार ही होता है। कबीर की कविता के ऐसे स्थलों को देखकर पाठक उनके अर्थ की गहराई में उतरने के पहले ही आश्चर्य सागर में गोते लगाने लगता है। सृष्टि और योग की रहस्यवादी क्रियाएँ ही ऐसी उक्तियों का प्रमुख आधार रही हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

ऐसे अद्भुत मेरे गुरु कथ्या मैं रहा भेखै ।
मूसा हस्ती सौ लड़ै कोई बिरला पेखै ।
मूसा पैठा बाबि लारै सांपनिधाय ।
उलटि मूसै सापरिणगिली यहु अचरज भाइ ॥

कबीर की इस कोटि की उलटवासियाँ प्रायः पहेलियों जैसी हैं। इनमें निहित गूढ़ अर्थ को समझने के लिए पूरी योगसाधना को समझना पड़ता है। कबीर की कविता के ऐसे स्थल भी पारिभाषिक व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। पर बिना अर्थ को गहराई में पहुँचे ही इनमें निहित चमत्कार से साक्षात्कार किया जा सकता हैं। ऐसे पदों में चर्चित विरोधमूलक बाते स्वयं ही पाठक को आश्चर्य मैं डाल देती है।

कबीर की तीसरे प्रकार की उलटवासियाँ प्रतीक प्रधान है। प्रतीकों की

विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है। इन प्रतीकात्मक उलटवासियों की अभिव्यक्ति विविधरूपकों की योजना के माध्यम से हुई है। ऐसे स्थलों पर कबीर प्रतीक योजना और कहीं-कहीं सुन्दर रूपकों की आयोजना के माध्यम से श्रेष्ठ आध्यात्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति में अत्यंत सफल हुए है। इस कोटि की उलटवासियों में भी विरोधमूलक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचक्खन नारी।
बैल बियाइ , गाइ भइ बाँझि, बछरा दूहै तीयू साँझि।
मकड़ी धरि माखी छछिहारी , मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया , मीडक सोवै साँप पहरिया।
नित उठि स्याल सिंह सू जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।

\+ \+ \+

बरसै कम्बल भीगै पानी।

ऐसे स्थलों पर विविध लौकिक वस्तुओं को प्रतीक रुप में ग्रहण कर कबीर असंगत एव विरोध पूर्ण कथनों के माध्यम से रहस्यात्मक अर्थ की ओर संकेत करते देखे जाते हैं।कबीर की कबिता के ऐसे स्थल भी परिभाषा की अपेक्षा रखते हैं।

अलंकार योजना—

पहले कबीर की कविता में निहित प्रतीकों एवं उलटवासियों की चर्चा करते समय कुछ विरोधमूलक अलंकारों के प्रयोग की चर्चा की जा चुकी है।विरोध मूलक अलंकारों के अतिरिक्त कबीर की कविता में अनेक साम्यमूलक अर्थालंकारों का प्रयोग भी दुर्लभ नही हैं। इनमें रूपक अलंकार का प्रयोग तो बहुतायत से हुआ है। कबीर की प्रतीकयोजना तो पूर्णतया रूपकाश्रित है। रूपक के अतिरिक्त उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग भी दुर्लभ नहीं है।अलंकार प्रयोग की दृष्टि से कबीर की कविता में निहित दो अलंकारों अन्योक्ति और समाभोक्ति को चमत्कार अत्यन्त सराहनीय है। अन्योक्ति अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी। तेरे ही नाल सरोवर पानी।

जल में उतपति जल में बास । जल में नलिनी तोर निवास ।
ना तल तपत न ऊपर आग । तोर हेतु कहु कासन लाग
कहत कबीर जो उदक समान । ते नहि मुए हमारी जान ।

यहाँ नलिनी को संबोधित कर कवि ने अपनी आध्यात्मिक विचारधारा को अभिव्यक्ति दी है । समासोक्ति अलंकार का प्रयोग तो बहुत प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता रहा है । सूफी सन्तों की समासोक्ति पद्धति विख्यात ही है । कबीर ने भी अपनी आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए समासोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है । समासोक्ति अलंकार में प्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत की व्यंजना करायी जाती है । कबीर का एक समासोक्ति प्रयोग द्रष्टव्य है—

जा कारण मैं ढूढ़ता सनमुख मिलिया आय ।
धनि मैली पिउ उजला लागि न सक्को पाय ।

इन कुछ प्रमुख अलंकारों के अतिरिक्त कबीर की कविता में स्वभावोक्ति, बक्रोक्ति, छेकोक्ति, गूढ़ोक्ति, व्याजोक्ति आदि अन्यानेक अलंकारों का प्रयोग भी दुर्लभ नहीं है । ढूढ़ने पर तो और भी अनेकों अभिव्यक्ति पद्धतियाँ पायी जा सकती हैं, पर कबीर ने इन सबकी आयोजना जानबूझ कर नहीं की । ये उक्तियाँ उनकी कविता का स्वतः अनुगमन करती हैं ।

भाषा—

कबीर की भाषा पर विचार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं— "………भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है । पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं, जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी प्रभाव है ।" इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं है । यह तो कबीर ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे । ऐसी स्थिति में व्यावहारिक प्रयोगों के आधार पर उन्हें जितना भी भाषा ज्ञान था, सबका सब उन्होंने अपने काव्य में प्रयोग किया । कबीर घूम फिर कर जनता के बीच उपदेश देने वाले सन्त थे । अतः उनकी भाषा भी जनता के बीच की होने के साथ ही विभिन्न प्रान्तों से संबन्धित है । कबीर ने न तो अपने काव्य का कोई पूर्व रूप तैयार किया था और न ही उसके अनुरूप भाषा का निर्माण किया था । उनके मन में जो

भी भाव उठते थे, वे सीधी-सादी भाषा में व्यक्त कर देते थे। उनकी अपनी एक कोई निश्चित शैली भी नहीं थी। उनके पूरे काव्य में मुक्तक शैली का व्यवहार हुआ हैं जो कि उन जैसे मस्तमौला तथा अक्खड़ सन्त के सर्वथा उपयुक्त थी। इस प्रकार वे न तों भाषा के अनुचर थे न ही शैली के ये दोनों स्वयं ही उनके भावों का अनुगमन करती हैं। इस विषय में डा० हजारी प्रसाद का कथन उल्लेखनीय है—"भाषा पर कबीर का जबंदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट कर देना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया, बन गया तो सीधे-सीधे नहीं दरेरा देकर। भाषा कुछ लाचार सी कबीर के सामने नजर आती है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।"

निषकर्ष—निष्कष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाव, अलंकार-प्रयोग एवं भाषा प्रयोग सभी दृष्टियों से कबीर की कविता एक उच्चकोटि की कविता है। यह बात अलग है कि उन्होंने अपने समस्त काव्य में 'रामरसायन' के स्वरूप चित्रण को ही प्रमुख स्थान दिया है। उनके काव्य में विविध काव्याभिव्यक्तियाँ व्यवहृत अवश्य हैं, पर अनजाने ही। कविता भावों का उच्छलन है। जब हृदय के सच्चे उद्गार कविता का रूप धारण करते हैं बाह्यकाव्यभिव्यक्तियाँ स्वयमेव उसका सम्मान करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं। आदि कवि वाल्मीकि ने तो अपने हृदय का सच्चा उद्गार ही व्यक्त किया था, क्या हुआ यदि वह उद्गार लौकिक संस्कृत का प्रथम अनुष्टुप प्रयोग कहा गया। कबीर के भाव भी उनकी अन्तरात्मा के सच्चे उद्गार थे, प्रकट होने पर तो उन्हें कोई न कोई नाम मिलना ही था। यह तो आलोचकों का कार्य है, कि वे निश्चित कर देखें कि उनके उद्गार किस काव्यरूप के अंतर्गत आयेंगे। कबीर की 'बानी' केवल भावों को प्रश्रय देती हैं, उनके प्रकटीकरण की पद्धति की चिन्ता उसे नहीं थी। यदि कुछ आलोचक कबीर के काव्य में बनावटी काव्यत्व का दर्शन नहीं करते तो इससे कम से कम स्वयं कबीर को तो शिकायत नहीं हैं, हाँ उनके प्रशंसकों को हो सकती है। इनके प्रशंकों की स्थापनाएँ दृढ़ भित्ति पर भी आधारित हैं। अतः कबीर का काव्य केवल भक्ति-प्रधान काव्य ही नहीं उच्चकोटि की साहित्यिकता से युक्त काव्य भी कहा जा सकता है।

—o—

९

कबीर का समन्वयकारी व्यक्तित्व

कबीर एक कवि थे, भक्त थे, समाज सुधारक थे या साधक योगी थे, इस प्रश्न को लेकर विवाद खड़ा करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। उनकी कविता के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला जा चुका है। इसे देखते हुए कबीर की कविता को किसी एक वर्ग या विचार धारा के अन्तर्गत बाँध पाना एक दुरूह कार्य होने के साथ ही, असम्भव कृत्य भी है। कबीर की कविता इन सभी विचार धाराओं का समन्वित रूप कही जा सकती है। जहाँ एक ओर उनकी कविता भक्तों को आनन्द देने वाली है, वहीं दूसरी ओर वह सहृदय काव्य-मर्मियों के लिए भी अभिरामदायिनी है। जहाँ एक ओर वह हठयोग को प्रश्रय देती है, वहीं दूसरी ओर सामान्य जनता को सहजसाधना मार्ग का भी निर्देश करती है। उनकी कविता इन सभी विचारधाराओं का मणिकांचन योग है। इनमें से किसी एक पक्ष विशेष को दृष्टिकोण में रखकर की गयी कबीर की कविता की परख, अधूरी ही रहेगी। ये सभी विचारधाराएँ कबीर के काव्य-व्यक्तित्व की अंगभूत हैं। संक्षेप में उनकी कविता सर्वत्र समन्वय को ही प्रश्रय देती है। समन्वित रूप में देखने पर ही, उसके सौन्दर्य एवं महत्व को आँका जा सकता है। किसी एक अंग विशेष के आधार पर इनकी कविता को देखना दुराग्रह मात्र कहा जायेगा।

कबीर की कविता में सर्वत्र समन्वय भावना का ही प्रश्रय दिया गया है। उनका यह समन्वय धार्मिक सामाजिक एवं साहित्यिक सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। यहाँ इनमें से प्रत्येक की चर्चा कर लेना उपयुक्त होगा।

धार्मिक समन्वय—कबीर जिस युग में हुए, वह दो परस्पर विरोधी धर्मों

के संघर्ष का युग था। वे धर्म थे—हिन्दू और इस्लाम। कबीर ने दोनों ही धर्मों का समन्वय अपनी विचार धारा के अन्तर्गत किया। उन्होंने दोनों ही धर्मों के ढकोसलों की खिल्ली उड़ायी और उनके अनुयायियों को वास्तविकता से अवगत होने की सलाह दी। पहले तो उन्होंने दोनों ही धर्मों की थोथी मान्यताओं पर भयानक प्रहार किया और बाद में दोनों धर्मों के धर्मानुयायियों को एक समन्वित मार्ग दिखाया, जिस पर चलकर दोनों ही शान्ति पूर्वक रह सकते थे। कबीर ने अपने इस धर्म को सहज धर्म की संज्ञा दी। इस धर्म का निर्माण मानवता की भित्ति पर हुआ था। हिन्दू और मुसलमान, मनुष्य पहले हैं, परस्पर धर्म विरोधी बाद में। कबीर ने अपनी तेजस्विनी वाणी के प्रकाश में, दोनों धर्मों के अनुयायियों को वास्तविक मार्ग दिखाया। दो, परस्पर विनाश के स्तर तक पहुँचे हुए, धर्मों को कबीर ने, आपस के संघर्ष से रोका। कबीर की वाणी ने दोनों ही धर्मों के अनुयायियों को वास्तविक मार्ग दिखाया। यही कारण है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कबीर की विचारधारा के समर्थक बने, और दो परस्पर विरोधी धर्म समन्वित होकर एक ही राह पर चल पड़े। कबीर की धार्मिक मान्यताएँ हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक मान्यताओं के मणिकांचन योग से निर्मित हैं। उनका ईश्वर हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद दोनों की विशेषताओं से युक्त है।

कबीर ने भारत के दो परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय करने के साथ ही स्वयं भारतीय धर्मों के बिखरे रूपों को भी समन्वित करने का प्रयास किया। भारतीय धर्म-चिन्तन भी कर्मकाण्ड, योग और वेदान्त आदि चिन्तनधाराओं में विभक्त हो गया था। इनमें कर्मकाण्ड तो कबीर की वाणी के वज्र प्रहार से ढह सा गया, इसकी वे जीवन भर निन्दा करते रहे, परन्तु योग और वेदान्त की अलग-अलग दिशाओं में बहती हुई, चिन्तनधाराओं को उन्होंने एक ही दिशा में प्रवाहित कर दिया। कबीर ने हठयोग और अद्वैतवेदान्त दोनों की मान्यताओं का अनुसरण करते हुए, मन की साधना पर विशेष बल दिया इस मन की साधना के लिए वे 'सूधे करम और मूधे वचन' से राम-नाम स्मरण पर विशेष बल देते हैं। उन्होंने इसके लिए न तो कठिन काया-साधना को आवश्यक बताया और न ही ज्ञान पर विशेष बल दिया। उनका विश्वास था कि व्यक्ति यदि अपने मन को पवित्र रखकर, निष्काम भावना से, अपने अन्तर में ही निहित, परमज्योति के साक्षात्कार का प्रयास करे, तो इसके लिए न तो उसे कठिन समाधि लगाने

की आवश्यकता है और न ही वेदान्ताद से सम्बन्धित दर्शन ग्रन्थों के अध्ययन की। कबीर की मान्यताएँ ऐसे प्रशस्त चौराहे पर खड़ी है, जहाँ एक ओर दर्शन निकल जाता है, दूसरी ओर योग, एक ओर धर्म निकल जाता है और दूसरी ओर साम्प्रदायिक मान्यताएँ। इस सन्दर्भ में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन उल्लेखनीय है—"कबीर ऐसे ही मिलन विन्दु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर योग-मार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण-भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखायी पड़ जाते थे। यह कबीर का भगवद्दत्त सौभाग्य था उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।" कबीर का यही समन्वयवाद उनकी सारी कवितामें प्रधान है। चाहे उनकी कविता का धार्मिक पक्ष हो चाहे योग परक पक्ष दोनों ही में वे विविध मान्यताओं के बीच से तथ्य की बातें ग्रहण कर, उनको स्थापित करते देखे जाते हैं।

सामाजिक समन्वय–

कबीर की ओजस्विनी 'वाणी' प्रारम्भ से अन्त तक समाज में फैली हुई ऊँच-नीच की भावनाओं को धराशायी करने में लगी रही। उनकी कविता का यह पक्ष अत्यन्त सशक्त है। कबीर ने जिस, सामाजिक जटिलता से ग्रस्त युग में अपने विचार व्यक्त किये, उसे देखते हुए आश्चर्य में पड़ जाना होता है। परन्तु कबीर के विलक्षण व्यक्तित्व को देखते हुए, यह सब स्वाभाविक सा लगने लगता है। किसी अन्य को उपदेश देने के पहले, स्वयं उपदेशक को पहले अपनी ओर देखना पड़ता है। कबीर भी ऐसे ही उपदेशक थे। उनका न कोई धर्म था, न कोई जाति थी और न ही कोई पूर्वाग्रह ग्रस्त मान्यता। वे जो कुछ भी कहते, बिना किसी लाग-लपेट के कहते थे। यही कारण है कि दूसरों की कटु निन्दा करते हुए भी वे बेदाग बचे रह जाते थे। सामाजिक कुरीतियों का खण्डन वे करते थे, पर यह खण्डन किसी मान्यता विशेष के मण्डन के लिए नहीं होता था। वे एक सत्यवादी सन्त थे। सच बात कह देना उनका स्वभाव था, वह सच चाहे कितना ही कड़ुवा क्यों न हो। कबीर के युग का समाज विविध साम्प्रदायिक मान्यताओं और जटिल जाति बन्धनों से ग्रस्त था। कबीर ने इस जटिलता के बीच सरल मार्ग की स्थापना की। उनकी मान्यताएँ मानवतावादी

सिद्धान्तों पर आधारित थीं। वे मनुष्य को समाजगत या जातिगत बन्धनों से अलग मनुष्य के ही रूप में देखते थे। उनकी दृष्टि में सभी मनुष्य एक समान थे। सभी एक परमशक्ति से उद्भून हैं, एक ही सूर्य उन्हे प्रकाश देता है, एक ही बादल उन्हें पानी देता है, एक ही धरती उन्हें आश्रय देती है, सबमें एक ही प्रकार का रक्त प्रवाहित है, फिर, सभी में आपस का भेद कहाँ से आया। कबीर की मान्यताएँ समवेत रूप से मानव-कल्याण से युक्त हैं। उनके पथ पर चलने के लिए चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान; चाहे ऊँच हो चाहे नीच; सभी को छूट है। यह सामाजिक समन्वय ही कबीर की कविता का प्राण है। यही कारण है कि अधिकतर आलोचकों ने कबीर की कविता में समाज-सुधार के पक्ष को ही बहुतायत से चित्रित देखा।

साहित्यिक समन्वय—

यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कबीर ने पढ़-लिख लेने के बाद कविता नहीं की। उनकी कविता हृदय की सच्ची अनुभूतियों पर आधारित है, काव्य के कृत्रिम उपकरणों पर नहीं। कबीर जनता के कवि थे। वे जनता की भाषा में ही अपने विचार व्यक्त करते थे। सामान्य जनता में प्रचलित लोक गीतों में ही उन्होंने अपने भाव व्यक्त किये। अपने से पहले के प्रचलित लगभग सभी छन्दों और गीतों का प्रयोग कबीर ने किया। साखी, सबद और रमैनी के अतिरिक्त, चौंतीसो, विप्र बतीसी, कहरा-हिंडोला, वसन्त, चाँचर, बेलि, बिरहुली आदि अनेको परम्परा प्रचलित छन्दों और लोकगीतों का समन्वय कबीर की कविना में मिलता है। छन्दों के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी उनकी यह समन्वय भावना देखी जा सकती है। अभिव्यक्ति की किसी भी पद्धति को स्वीकार करने में कबीर को हिचक नहीं लगती। वे जहाँ गये, वहीं की भाषा और अभि-व्यक्ति पद्धति उनकी अपनी बन गयी।

निष्कर्ष—सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीरकी कविता पूर्णतया एक समन्वय प्रधान कविता है। यह समन्वय वैचारिक और साहित्यक दोनों ही स्तरों पर हुआ है। इनकी कविता को किसी दृष्टि विशेष से देखना, पूर्वाग्रह ग्रस्तता मात्र कही जायेगी। कबीर एक बहुमुखी व्यक्तित्व धारी चिन्तक हैं। उनकी चिन्तनधारा से अवगत होने के लिए उनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है। अत्यन्त संक्षेप में कबीर का व्यक्तित्व उनके कवि, भक्त और समाज सुधारक तीनों पक्षों का समन्वित रूप है।

जायसी

१०

प्रेमाख्यान-काव्य परम्परा और जायसी

समस्त हिन्दी भक्ति-काव्य आन्दोलन ईश्वर सम्बन्धी दो प्रमुख विचार-धाराओं, निर्गुण और सगुण को आधार बनाकर प्रस्फुटित हुआ। इनमें ईश्वर सम्बन्धी निर्गुण विचारधारा भक्तियुग की प्रमुख विचारधारा रही। इसे मानने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। जहाँ तक सगुण विचारधारा का प्रश्न है, इसे केवल हिन्दू मन ही प्रभावित हुआ। हिन्दुओं से इतर इस्लाम मतावलम्बियों के लिए यह अजनबी ही बनी रही। इसके विपरीत ईश्वर सम्बन्धी निर्गुण विचारधारा सर्वसाधारण को मान्य होती गयी। इसके दो प्रमुख कारण थे—एक तो निर्गुण सन्तसाधक, जो कि इसके प्रमुख प्रचारक थे, अत्यन्त साधारण तथा सामान्यजनता के बीच विचरण करने वाले थे, दूसरे; इस विचार-धारा के विस्तार में हिन्दू सन्तों के अतिरिक्त इस्लाम मतावलम्बी फकीरों (साधुओं) ने भी योगदान किया। इस प्रकार यह विचारधारा अपने दो अलग-अलग रूपों में प्रसार पाती रही। एक ओर उसे कबीर के अनुयायी फक्कड़ एवं स्पष्टवादी सन्तों का सहयोग मिला, दूसरी ओर कोमल प्रकृति के सूफी साधकों के प्रेमाख्यानों का बल प्राप्त हुआ और वह दुगने वेग के साथ जनता के बीच प्रसार पाती गयी। निर्गुण उपासना सम्बन्धी इन दोनों विचारधाराओं को क्रमशः ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखाओं के नाम से अभिहित किया गया। हिन्दी की विस्तृत प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा का सम्बन्ध निर्गुण उपासना की प्रेमाश्रयी शाखा से है। इस परम्परा के अधिकांश कवि सूफी सन्त थे। ये इस्लाम धर्मावलम्बी होते हुए भी, इस्लाम की कट्टरताओं से दूर रहते हुए मानवता के कल्याण का कार्य करते रहते थे। इन सन्तों की चित्तवृत्ति से

परिचय प्राप्त करने के लिए, सूफी मत के उद्भव और विकास तथा उसके सिद्धांत पक्ष पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

'सूफी' शब्द का अर्थ—'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के रूप में विद्वानों ने कई शब्दों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वान इस शब्द को 'सुफ्फा' (चबूतरा) से व्युत्पन्न मानते हैं, उनका कथन है कि मदीना में मस्जिद के सामने बने चबूतरे पर बैठने वाले फकीर 'सूफी' कहलाये। दूसरे विद्वान 'सफ्फ' (अग्रिम पंक्ति) से इस शब्द को व्युत्पन्न करते हुए तर्क देते हैं कि जो सन्त अपने सदाचार और पवित्रता के कारण कयामत के दिन अग्रिम पंक्ति में खड़े किये जायेंगे उन्हें 'सूफी' कहा गया है।

अन्य कुछ विद्वान् 'सफा' अर्थात् पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले फकीरों को 'सूफी' कहना चाहते हैं। कुछ विद्वान् सूफी शब्द को शोफिस्त (ज्ञानी) शब्द का बिगड़ा हुआ रूप मानते हैं। अरब की एक जाति विशेष 'सूफा' तथा एक भक्त विशेष 'सुफ्फाह' से भी इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ा गया है। ये सभी मत प्रायः एकांगी और व्यक्तिगत कल्पनाओं पर आधारित हैं। 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति से सम्बन्धित एक मत प्रायः अधिकतर विद्वानों को मान्य है। इस मत के अनुसार अरब तथा ईराक में निवास करने वाले कुछ फकीर 'सूफ' (सादा ऊन) के कपड़े धारण करते थे। इन्हें ही आगे चलकर 'सूफी' संत कहा गया होगा। अबूनूस्रूल सर्राफ ने भी सूफी शब्द की यही व्युत्पत्ति स्वीकार की है। हिन्दी सन्त काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री परशुराम चतुर्वेदी 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं—"सूफी" शब्द मूलतः उन अरब और ईराक देश के कतिपय व्यक्तियों को सूचित करता जान पड़ता है जो मोटे ऊनी वस्त्र का चोंगा पहना करते थे, जो विरक्तों व संन्यासियों का सा जीवन-यापन करते थे तथा जो अपनी महत्वपूर्ण साधनाओं के कारण मुस्लिमों की अगली पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे।" चतुर्वेदीजी का यह मतअत्यन्त संक्षेप में सूफी संतों की वाह्य-वेष-भूषा और उनकी जीवन-पद्धति दोनों को स्पष्ट कर देता है। सूफी संत-साधक अपने उद्भव काल से ही भौतिक जीवन से विरक्ति ग्रहण कर आध्यात्मिक चिन्तन तथा मानव-कल्याणकारी भावनाओं के प्रसार में संलग्न रहे हैं। ये

अत्यन्त स्वच्छन्द प्रकृति के तथा प्रेम को जोवन में अत्यधिक महत्व प्रदान करने वाले सन्त-साधक थे। इनके मन की कोमल अनुभूतियाँ और प्रेम की विशद रीतियाँ इनके ग्रंथों में स्पष्ट ही परिलक्षित की जा सकती हैं। 'सूफी' शब्द का व्यवहार तुर्की भाषा में एक 'कल्पना प्रवण' एवं 'उन्मुक्त चिन्तक' कवि के अर्थ में हुआ है। 'सूफी' कवियों में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं।

सूफी मत का उद्भव एवं विकास—सूफी सन्त इस्लाम मतावलम्बी बताये जाते हैं, परन्तु इस मत की जड़ें स्वयं इस्लाम से भी गहरी हैं। कुछ विद्वान आदम को प्रथम सूफी मानते हैं। यह सत्य हो या न हो पर इतना तो निश्चित है कि मुहम्मद साहब के पहले ही सूफी मत जन्म ले चुका था। मूल रूप से सूफी मत शामी जाति तथा मानीमत की मान्यताओं से सम्बद्ध बताया जाता है। सूफियों का रतिभाव या प्रेमतत्व शामी जाति की गुह्य मण्डली से गृहीत बताया जाता है। सूफियों की 'इस्लाम' और 'हाल' अवस्थाओं को भी इस जाति की देन माना गया है। देवताओं के वश में होकर बोलने को 'इलहाम' तथा उस दशा को 'हाल' कहा गया है। शामी जाति में मूर्तिचुम्बन की भी प्रथा थी, वह सूफियों में बोसे और वस्ल के रूप में प्रचलित हुई। इन कुछ मान्यताओं के अतिरिक्त सूफियों के मत विकास में मानी मत के लोगों का भी योगदान बताया जाता है। इस मत का प्रभाव प्रायः सूफी मत की दार्शनिक चिन्तन धारा पर बताया गया है। मानीमत में प्रचलित गुरु-शिष्य परम्परा का विधान मूर्ति-खंडन तथा जन्मांतर निरूपण आदि बातें सूफियों के दार्शनिक चिन्तन के मूल में देखी जा सकती हैं।

सूफी सन्तों पर भारतीय प्रभाव—उपर्युक्त मत के ठीक विपरीत कुछ विद्वान सूफी मत पर पूर्णतः भारतीय प्रभाव बताते हैं। सूफियों ने अपने मत के प्रचार के लिए जिस प्रकार की प्रेमकथाओं की रचना की, वे सभी प्रायः भारतीत ही हैं। ये कथाएँ बहुत प्राचीन काल से ही भारतीय जनजीवन तथा साहित्य में प्रचलित रही हैं। सूफी संतों द्वारा की गयी रचनाओं के नामकरण, उनकी कथावस्तु, कथानकरूढ़ियों तथा विचारतत्व सभी पर भारतीयता की छाप है।

इन कथाओं के कलेवर को देखते हुए, इन्हें भारत के बाहर की स्तु बताना अतिरंजना मात्र है। सूफी-काव्यों पर फारसी पद्धति और इस्लामिक मान्यताओं को थोपने वाले विद्वान्, विशाल भारतीय कथा-परम्परा को भूल जाते हैं। भारत में महाभारत काल से ही ऐसी प्रेमकथाओं की रचना प्रारम्भ हो गयी थी। वहाँ आयी हुई नल-दमयन्ती कथा इसका प्रमाण है। इसके बाद हरिवंश पुराण में कृष्ण-रुक्मिणी, प्रद्युम्न-प्रभावती,-उषा-अनिरुद्ध आदि प्रेमकथाएँ मिलती हैं। परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों में आयी हुई सभी कथानकरूढ़ियाँ इन प्रेमकथाओं में पायी जाती हैं। संस्कृत की इन प्रेमकथाओं का विकास आगे चलकर प्राकृत-कथा साहित्य में भी हुआ। प्राकृत की ये ही कथाएँ हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों के मूल में देखी जा सकती हैं। इन प्रेमकथाओं में आयी हुई कथा रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने इस प्रकार किया है—

"(क) इनमें नायिकाओं के नाम प्रायः 'वती' प्रत्यय वाले हैं, जैसे—मृगावती अलंकारवती, शशांकवती, पद्मावती, लावण्यवती, रत्नावती, धनवती, हिरण्यवती मंदारवती, मदिरावती, मलयवती आदि (हिन्दी के) रोमांचक (प्रेमाख्यानपरक) काव्यों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है, उदाहरण के लिए हिन्दी काव्यों में प्रयुक्त कुछ नाम द्रष्टव्य है—पद्मावती, मृगावती, कनकावती, पुष्पावती आदि।

(ख) नायक का जन्म प्रायः विशेष अनुष्ठान या दैवी आशीर्वाद से होता है।

(ग) नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति प्रायः स्वप्न दर्शन, चित्र-दर्शन या प्रथम दर्शन से होती है।

(घ) नायिका प्रायः किसी न किसी द्वीप (मलय द्वीप, सिंहल द्वीप, रत्न द्वीप स्वर्ण द्वीप आदि) की वासिनी होती है, जिससे नायक के समुद्र यात्रा करने, जहाज के टूटने, नायक के बचने के प्रसंगों का समावेश होता है।

(ङ) नायक प्रायः ब्राह्मण, भिक्षु या तपस्वी का रूप धारण करके नायिका की प्राप्ति के लिए घर से निकलता है।

(च) नायक को किसी संन्यासी, पक्षी या दैवी शक्ति की सहायता से नायिका का पता चलता है।

(छ) नायक-नायिका की प्रथम भेट प्रायः किसी मन्दिर या फुलवारी में होती है।

(ज) नायक को प्रायः नायिका के संरक्षक से संघर्ष करना पड़ता है।

(झ) नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को पर्याप्त शौर्य एवं साहस से काम लेना पड़ता है।

(ञ) मुख्य नायिका की खोज करते समय प्रायः नायक की भेट किसी अन्य सुन्दरी से या ऐसी सुन्दरियों से हो जाती है जो किसी राक्षस या अत्याचारी व्यक्ति के बन्धन में होती है, जिन्हें नायक मुक्त करवाकर अपने साथ ले लेता है।

(ट) अन्त में किसी सिद्ध योगी, देवता या बैताल की सहायता से नायक को सफलता मिलती है।"

प्राकृत कथा-काव्य की ये रूढ़ियाँ अपभ्रंश कथा काव्यों से होती हुई हिन्दी के प्रमाख्यानक काव्यों में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ ज्यों की त्यों देखी जा सकती हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भी यदि हम हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों को विदेशी परम्परा का बतायें, तो अतिरंजना मात्र होगी। सूफी कवियों में कुछ के मुसलमान कवि होने के कारण तथा अपने ग्रंथों में फारसी परिभाषिक शब्दावली के व्यवहार के कारण ही सम्भवतः सूफी मत तथा उसके प्रसार के लिये लिखे गये काव्यों की जड़ इस्लाम में खोजी जाने लगी होगी। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों पर फारसी काव्य पद्धति के अतिरंजना पूर्ण प्रभाव की भ्रांति विद्वानों का पूर्वाग्रह और परम्परा अज्ञान ही कहा जा सकता है।

हिन्दीप्रेमाख्यानक काव्यपरम्परा कुछ भ्रान्तियां—पहले यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि हिन्दी प्रेयाख्यानक काव्य परम्परा विशुद्ध भारतीय परम्परा है, जो प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंशों में होती हुई हिन्दी में विकसित हुई। यह संयोग की बात थी कि हिन्दी में सर्वप्रथम इस कथा परम्परा का व्यवहार सुफी सन्त साधकों ने किया। सुफियों के इस्लाम मतानुयायी होने के

कारण ही हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने इस परम्परा को विदेशी घोषित कर इस पर फारसी शैली का प्रभाव परिलक्षित किया और बहुत प्राचीन काल से चली आयी प्रेमकथाओं की इस विकसित परम्परा को विद्वानों ने अपनी मान्यताओं के अनुकूल ही 'सूफी प्रेम-गाथा' या 'सूफी काव्य परम्परा' नाम दे दिया। इस परम्परा की कृतियों को विदेशी बताते हुए इनका लक्षण निरूपण इस प्रकार किया गया।

(क) सूफी प्रेमगाथाएँ फारसी की मसनवी शैली में लिखी गयी हैं। फारसी की मसनवी शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं—(१) कथा का सर्गबद्ध न होना, (२) पूरे काव्य का एक ही छन्द में लिखा होना, (३) कथा के प्रारम्भ में ईशवन्दना, पैगम्बर की स्तुति तथा समसामयिक राजा का उल्लेख तथा उसकी प्रशंसा।

(ख) इन काव्यों की प्रेमपद्धति भी फारसी है। भारतीय परम्परा के विपरीत इन कथाओं में नायक के विरह का आधिक्य है। कुल मिलाकर इनका प्रेम एकान्तिक और लोकबाह्य है।

(ग) हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के रचयिता मुसलमान हैं।

(घ) इन काव्यों में आयी हुई दार्शनिक शब्दावली तथा दार्शनिक चिन्तन-पद्धति भी कुछ अंशों में विदेशीय है।

प्रेमाख्यानक काव्यों की ये विशेषताएँ विदेशीय न होकर मूलतः भारतीय हैं। भारतीय साहित्य की २५०० वर्षों की सुविस्तृत कथा-परम्परा में ये सभी लक्षण देखे जा सकते हैं अतः इन्हें विदेशीय कहना उपयुक्त नहीं है। जिन कृतियों को विद्वान आलोचक फारसी की मसनवी पद्धति में लिखी हुई मानते हैं वे परम्परा का अनुसरण कर लिखी गयी कृतियाँ हैं। अब ऊपर दिये गये एक-एक तर्क को लिया जाये।

(१) हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के ग्रन्थों को फारसी की मसनवी शैली की जिन विशेषताओं से संयुक्त बताया गया है, वे सभी विशेषताएँ भारतीय कथाओं में भी पायी जाती हैं। मसनवी शैली की पहली विशेषता कथा का

सर्गबद्ध न होना बतायी गयी है यह लक्षण भारतीय प्रेमकथाओं पर भी घटित होता है। अग्निपुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

दूसरी विशेषता है—ग्रंथों में एक ही छन्द का व्यवहृत होना। यह तर्क तो प्रेमाख्यानक कृतियों को देखते ही निमूर्ल सिद्ध हो जाता है। इन कृतियों में सर्वत्र दो छन्दों चौपाई और दोहा का व्यवहार हुआ है, केवल एक छन्द का नहीं। तीसरा तर्क है ईशवन्दना पैगम्बर स्तुति आदि का होना। संस्कृत के प्रसिद्ध आलोचक रुद्रट (९वीं शती) ने कथा के लक्षण में स्पष्ट दिया है—"कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रन्थकार को अपना और अपने कुल का परिचय देना चाहिए। इन सभी तथ्यों के उपस्थित रहते भी हिन्दी के विद्वान् आलोचक यदि प्रेमाख्यानक कृतियों को विदेशी ठहरायें तो इसे भ्रान्ति के अतिरिक्त और कौन-सी संज्ञा दी जा सकती है। इससे भी मजे की बात तो यह है कि भारतीय कथाओं के इन लक्षणों का निर्माण तभी हो चुका था जब कि फारसी में मसनवी शैली के ग्रंथों का निर्माण ही नहीं प्रारम्भ हुआ था। फारसी की मसनवी शैली की प्रथमकृति शाहनामा की रचना १०वीं शती में हुई थी।

(२) हिन्दी प्रेमाख्यान काव्यों में वर्णित प्रेम को विदेशी मानना भी सर्वथा भ्रान्ति ही है। फारसी मसनवियों तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में वर्णित प्रेमपद्धति में असमानताओं का द्योतन करते हुए डा० गणपति चन्द्र गुप्त लिखते हैं—"........फारसी मसनवियों लैलामजनू, शीरी-फरहाद, यूसुफ-जुलेखा आदि में प्रेम का उद्भव एकाएक प्रथमदर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या स्वप्न-दर्शन से नहीं होता, अपितु नायक-नायिका के पारस्परिक सम्पर्क एवं साहचर्य से धीरे-धीरे होता है। दूसरे फारसी मसनवियों में नायक का संघर्ष प्रतिनायक से होता है, जब कि भारतीय कथाओं में प्रायः नायिका के पिता या संरक्षक से होता है। तीसरे, फारसी मसनवियों में नायिका का विवाह प्रतिनायक से होता है तथा विवाह के अनन्तर भी नायिका अपने पति के स्थान पर अपने पूर्व प्रेमी से प्रेम करती रहती है, जबकि भारतीय कथाओं में ऐसा नहीं होता। चौथे, फारसी मसनवियों की परिणति प्रायः नायक की असफलतानिराशा और आत्म-

हत्या में होती है, जब कि भारतीय कथाओं में प्रेम की सफलता दिखायी जाती है। हिन्दी के आख्यानों में जिस प्रेम पद्धति का चित्रण हुआ है, वह मसनवियों के प्रतिकूल तथा भारतीय पद्धति के अनुकूल है।"

जहाँ तक केवल पुरुष के विरह-चित्रण का सम्बन्ध है यह भी भारतीय कथाओं में प्राप्त होता है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक का नायक नायिका के विरह में पागल होकर प्रलाप करता देखा जाता है। 'मेघदूत' के यक्ष की विरहवेदना का तो कहना ही क्या। 'कादम्बरी' का नायक तो विरह में प्राण ही त्याग देता है। इस प्रकार पुरुष के विरह का चित्रण भी भारतीय परम्परा के विपरीत नहीं पड़ता।

(३) तीसरा तर्क यह कि सभी प्रेमाख्यानक कृतियाँ मुसलमानों द्वारा ही लिखी गयी हैं अपने आप में और भी भ्रन्ति पूर्ण है। क्योंकि इस परम्परा की अब तक प्राप्त ५५ कृतियों में से ३५ कृतियाँ असंदिग्ध रूप से हिन्दू कवियों की रचनाएँ हैं।

इन सभी तथ्यों के साथ ही स्वयं फारसी लेखक भी भारतीय प्रेमकथाओं की महत्ता स्वीकार करते देखे जाते हैं। फारसी की प्रथम मसनवी 'शाहनामा' में कवि स्पष्ट उल्लेख करता है कि किस प्रकार बादशाह बहराम गौर ने भारत के मधुरकथा गायकों को बुलाया और ईरान में उनका भव्य स्वागत किया। इन कथागायको के वंशज आज भी वहाँ 'जिप्सी' कहलाते हैं। इन सभी तथ्यों को परे रखकर यदि हिन्दी के विद्वान आलोचक प्रेमाख्यानक काव्यों को विदेशी प्रभाव से ग्रस्त बताते हैं, तो या तो वे भारतीय प्रेमकथापरम्परा तथा उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं देते या फिर वे पूर्वाग्रह ग्रस्त हैं। प्रेमकथा काव्यों की इतनी स्वस्थ और सुदृढ़ परम्परा के होते हुए भी भारतीय कवियों को किसी विदेशी साहित्य से प्रेरणा लेने की आवश्यकता पड़ी यह बात कुछ तथ्यपरक नहीं प्रतीत होती। हिन्दी के जितने भी विद्वान आलोचकों ने हिन्दी प्रेमाख्यान काव्यों पर विदेशी प्रभाव स्वीकार किया है, उन सभी ने इस परम्परा की आदर्शकृति जायसीकृत 'पद्मावत' को स्वीकार किया है। यह कृति स्वयं प्राकृत की एक कथाकृति "रयण सेहर कहा" का पूर्णतः अनुगमन करती है। डा०

हरदेव बाहरी ने अपनी पुस्तक "प्राकृत भाषा और उसका साहित्य" (पृ० ६४) में इस तथ्य का उद्घाटन किया है। उनका मन्तव्य है कि "जायसी से पूर्व प्राकृत में रचित "पद्मावती" जैसी एक कथा उपलब्ध है, जिसका नाम 'रयण सेहर कहा' है। इसमें नायिका का नाम पद्मावती न होकर 'रत्नावती' है किन्तु शेष सारा कथानक वही है जो 'पद्मावत' का है।" इस कृति को पद्मावत का पूर्व रूप माना जा सकता है। प्राकृत की यह कृति 'गाहा' छन्द में रचित है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्वयं जायसी का एक कथन भी उल्लेखनीय है।

"आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।" इस कथन में स्पष्ट ही पूर्वकृति की ओर संकेत है। पहले से निबद्ध कथा को ही जैसी की तैसी; जायसी ने 'भाषा-चौपाई' में निबद्ध कर प्रस्तुत कर दिया। जब इस परम्परा की आदर्शभूत कृति की यह अवस्था है तो अन्य कृतियों को विदेशी प्रभाव से ग्रस्त देखना एक भ्रान्ति नहीं तो और क्या होगी।

इन तथ्यों के परे भी यदि सूफीमत के विकास पर ध्यान दिया जाये तो वह पूर्णतः भारत में ही विकसित हुआ। भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा ने उसे दार्शनिक आधार प्रदान किया। भारतीय हठयोग पद्धति ने उसकी साधना पद्धति को रहस्यात्मकता प्रदान की, भारतीय हिन्दूघरों में प्रचलित प्रेमकथाएँ तो इसकी प्राणभूत ही हैं। ऐसी स्थिति में इस काव्यधारा को विदेशी न कह कर भारतीय कहना ही उपयुक्त होगा। मात्र, कुछ मुसलमान कवियों की रचनाओं को आधार बनाकर इसे विदेशी बताना अनौचित्य से रहित नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी में प्रेमाख्यानकाव्य परम्परा—पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रेमकथा काव्यों की रचना भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से होती चली आयी है। प्रत्येक युग में इन प्रेमकथाओं के माध्यम से कवियों ने अपनी धर्म सम्बन्धी एवं सामाजिक मान्यताओं का प्रचार करना चाहा है। प्राकृत के जैनकवियों ने ऐसी कथाओं के माध्यम से ही अपने मत का प्रचार किया। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भी हिन्दू और इस्लाम-दो महान् संस्कृतियों

के समन्वय को दृष्टि में रखते हुए सूफी सन्त-साधकों ने अपनी प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति ललित एवं शौर्यपूर्ण कथाओं के माध्यम से किया। इन सन्त-साधकों ने अपने प्रेमकथाकाव्यों में हिन्दू दार्शनिक चिन्तन धारा और इस्लाम दार्शनिक चिन्तन धारा को एक साथ ही अभिव्यक्ति दी। इस महान् कार्य के सम्पादन के लिए इन कवियों ने लोक भाषा तथा लोक प्रचलित कथा रुढ़ियों का आश्रय विशेष रूप से लिया। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में विकसित इस विशाल काव्य-परम्परा को विद्वानों ने विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है—जैसे, निर्गुण प्रेमाश्रयीशाखा "प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा" "प्रेम-काव्य", "रोमांसिक कथाकाव्य परम्परा" तथा "प्रेमकथानक काव्य" एवं "सूफीसन्त काव्यधारा" आदि। इस परम्परा की कृतियों के लिए इन सभी नामों में, "प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा" नाम अधिक उपयुक्त है। इसी का व्यवहार यहाँ किया भी गया है। अब तक हुई खोजों के आधार पर इस परम्परा में लगभग ३७ कवियों तथा उनकी ५५ कृतियों के नाम प्राप्त हुए हैं। इनमें से कुछ प्रसिद्ध कवियों और उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं।

(१) असाइत कृत हंसावली—रचनाकाल १३७० ई०।
(२) मुल्लादाऊद कृत चंदायन—रचनाकाल १३७९ ई०।
(३) दामोदर रचित 'लखमनसेन पद्मावती कथा'—रचनाकाल १४५९ ई०
(४) ईश्वरदास कृत सत्यवती कथा—रचनाकाल १५०१ ई०।
(५) गणपति रचित माधवानलकामकन्दला—रचनाकाल १५२७ ई०।
(६) जायसी कृत 'पद्मावत'— रचनाकाल १५२० ई०।
(७) मंझन कृत 'मधुमालती'—रचनाकाल १५४५ ई०।
(८) उसमान कृत 'चित्रावली'—रचनाकाल १६१५ ई०।
(९) पुहकर रचित 'रसरतन'—रचनाकाल १६१८ ई०।
(१०) दुखहरणदास कृत 'पुहुपावती'—रचनाकाल १६६९ ई०।
(११) नूरमोहम्मद कृत 'इन्द्रावती' तथा 'अनुराग बाँसुरी'—रचनाकाल १७०७ ई०।

(१२) बोधारचित 'माधवानलकामकन्दला'—रचनाकाल १७५२ ई० ।

(१३) चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती'—रचनाकाल १७८० ई० ।

(१४) सेवाराम कृत 'नलदमयन्ती चरित्र'—रचनाकाल १७९६ ई० ।

(१५) मृगेन्द्र कृत 'प्रेमपयोनिधि'—रचनाकाल १८५५ ई० ।

इस परम्परा की आदर्शकृति जायसीकृत पद्मावत मानी जाती है । जायसी ने 'पद्मावत' में इस परम्परा की कुछ और भी कृतियों का उल्लेख किया है, परन्तु आजकल ये उपलब्ध नहीं होतीं । पद्मावत में इनका उल्लेख इस प्रकार हैं—

विक्रम धंसा प्रेम के धारा । सपनावति कहं गएउ पतारा ॥
मधू पाछ मुगधावति लागी । गगन पूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ । मिरगावसि कहं जोगी भएऊ ॥
साध कुँवर खंडरावति जोगू । मधूमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
प्रेमावति कहं सुरसरि साधा । उषा लागि अनिरुध बर बाँधा ॥

इस पद्य में उल्लिखित स्वप्नावती, मुग्धावती, खंडरावती, मधुमालती तथा प्रेमावती आदि कृतियाँ जायसी के पहले लिखी जा चुकी थीं । इन रचनाओं में केवल दो ही उपलब्ध होती हैं—

(१) कुतबनशेख कृत मृगावती—रचनाकाल १५०१ ई० ।

(२) मंझन कृत मधुमालती ।

कुछ इतिहासकारों ने 'मृगावती' को ही इस परम्परा की प्रथम हिन्दी कृति स्वीकार किया है, परन्तु ऊपर के उल्लेख से यह अत्यन्त स्पष्ट हैं कि १४वीं सदी से ही इस परम्परा की कृतियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था । यह बात अलग है कि प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक जायसी की 'पद्मावत' में हुआ । पद्मावत के बाद जितनी भी कृतियाँ रची गयीं, सभी इसका अनुगमन करती हैं ।

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की प्रमुख विशेषताएँ

(१) **अधिकतर प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रयोजन, लोकरंजन तथा शृंगार-चित्रण रहा**—हिन्दी के अधिकांश आलोचक इस परम्परा की कृतियों

को सूफी सिद्धान्तों के प्रचार हेतु रची गयी मानते हैं। परन्तु यह सत्य नहीं, एक बात तो यह है कि सभी प्रेमाख्यानक कृतियाँ मुसलमान सूफी सन्तों द्वारा ही रचित नहीं है, उनके रचयिता हिन्दू कवि भी रहे हैं। हिन्दू कवियों ने इन कृतियों में अपने देवी-देवताओं को भी स्थान दिया है। कुछ मुसलमान कवियों ने अवश्य इस्लाम दर्शन की चर्चा की है, पर वे भी हिन्दुत्व की ओर ही अधिक झुके हुए हैं। ऐसी स्थिति में इन कृतियों को सम्प्रदाय-प्रचार हेतु रची गयी मानना उपयुक्त नहीं है। इन रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य लोकरंजन और श्रृंगार तथा प्रेम-चित्रण ही रहा है। उच्चकोटि की दार्शनिकता से परे इस परम्परा के अधिकतर कवियों ने लौकिक प्रेम और श्रृंगार चित्रण द्वारा लोकरंजन पर ही अधिक बल दिया है। हाँ—जायसी, जैसे दार्शनिक कवि इसके अपवाद भी हैं डा० गणपतिचन्द्र गुप्त इस परम्परा के कवियों की लोकरंजनकारी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"............इन्होंने श्रृंगार-रस के चित्रण द्वारा पाठकों का मनोरंजन करने एवं अपने नाम की प्रसिद्धि के लिए ही प्रेमकथाओं की रचना की थी—हाँ, अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिए वेदान्तदर्शन, योगमार्ग, इस्लाम, नीतिशास्त्र, काम शास्त्र, काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र एवं भूगोल की सामान्य वातों का भी समाहार उन्होंने कर दिया, जो कि इस युग के अन्य कवियों की भी सामान्य प्रवृत्ति रही है...।" जायसी जैसे एक-दो साधकों को छोड़कर शेष कवि साधारण गृहस्थ थे, जिन्होंने लौकिक अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। शेख निसार और कवि नसीर ने पुत्र-पत्नी आदि के देहान्त-शोक को भी काव्य-रचना में प्रवृत्ति का निमित्त माना है। उसमान, आलम, जान, नूर मोहम्मद आदि ने अपनी रचनाओं को सर्वगुण सम्पन्न बताते हुए, उन्हें तरुणों के हृदय में काम बढ़ाने वाली एवं रसिक भोगविलासियों को तृप्ति देने वाली घोषित किया है...। इसी प्रकार अनेक हिन्दू कवियों ने भी अपना उद्देश्य एक ऐसी अद्भुत कथा लिखना बताया है जिससे विद्वानों की तो बात ही क्या, मूर्खों का भी मन मोहित किया जा सके। साथ ही उन्होंने अपनी रचनाओं को काम एवं विलास की पूर्ति

में योग देने वाली माना है।" यहाँ तक कि स्वयं 'पद्मावत' का कवि भी जहाँ शृंगार का चित्रण करने लगता है, उसकी दार्शनिकता एवं सैद्धान्तिकता पीछे रह जाती है। विविध वर्णनों द्वारा लोकरंजनार्थ ज्ञान-विज्ञान की सामग्री का उल्लेख करना तथा इसके माध्यम से अपनी विद्वत्ता का प्रतिपादन करना, इस परम्परा के सभी कवियों के लिए सामान्य बात है।

(२) **नारी का महत्व**—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों में नारी को बहुत बड़ा महत्व दिया गया है। उनकी दृष्टि में नारी ब्रह्म स्वरूप है। इनके लिए नारी लौकिक जीवन की भोग्य वस्तु मात्र न होकर साक्षात् परमात्मा के अंश के रूप में विद्यमान है। पुरुषरूपी साधक को नारी रूपी परमात्मा के ओठों की शराब पीने के लिए कठिन से कठिनतर और कठिनतम साधना करनी पड़ती है। भारतीय जीवन में नारी को वैसे भी श्रेष्ठ एवं पूज्या माना जाता रहा है, परन्तु प्रेमाख्यानक काव्यों में उसको और भी उच्च पद प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि वह अखिल सृष्टि के निर्णायक परमपिता परमेश्वर की प्रतिरूप मानी गयी।

दूसरी बात इस परम्परा के सभी काव्य नायिका प्रधान हैं। इनकी नायिकाएँ भी प्रायः 'वती' प्रत्यय धारिणी हैं—जैसे पद्मावती, मुग्धावती, खंडरावती आदि। इन काव्यों में कथा का केन्द्र-विन्दु नायिका ही रहती है। कथा की सारी घटनाएँ इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द मँडराती रहती हैं। नायक साधक के रूप में नायिका के समीप पहुँच उसका प्रसाद प्राप्त करने के लिए घोर तप और त्याग करता है, अन्त में नारी के प्रसाद रूपी आत्म-सर्म्पण से वह आनन्दित होता है।

नारी चित्रण की इस पद्धति को विद्वान् आलोचक विदेशी बताते हैं। फारसी काव्यों में माशूक (प्रेमिका) को आशिक (प्रेमी) से श्रेष्ठ माना गया है। आशिक माशूक से मिलने के लिए छटपटाता है, आहें भरता है, उसे पाने के लिए पहाड़ तक काटने का साहस करता है। प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के कवियों ने नारी चित्रण की यही पद्धति अपनाया, परन्तु भारतीय प्रभाव के मिल जाने से इसमें और भी गरिमा आ गयी। प्रेमाख्यानक कवियों की रहस्य भावना ने इस चित्रण

में दार्शनिकता का भी पुट दे दिया। भारतीय सांख्य-दर्शन में प्रकृति को चल और पुरुष को स्थिर बताया गया है। पुरुष की इच्छाओं का संचालन कार्य (सृष्टि निर्माणादि) प्रकृति के ही हाथों सम्पन्न होता है। भारतीय दर्शन की यह मान्यता तथा फारसी की नारी-चित्रण पद्धति का प्रेमाख्यानक काव्यों में मणि-कांचन योग उपस्थित हुआ। भारतीय लौकिक जीवन में पहले से ही देवी पद पर अधिष्ठित नारी और भी उच्च पद की अधिकारिणी बन गयी।

(३) **अधिकतर प्रेमाख्यनक काव्यों में एतिहासिकता के साथ कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण है**—हिन्दी के सभी प्रेमाख्यानक काव्यों को उद्गम की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है —

(१) **पौराणिक** वृत्तों **पर आधरित कथाएँ**—जो महाभारत हरि-वंश -पुराण आदि पर आधारित हैं। जैसे नलदमयन्ती कथा तथा उषा-अनिरुद्ध कथा आदि।

[२] **ऐतिहासिक या अर्द्ध ऐतिहासिक वृत्तों पर आधारित कथाएं**। इस कोटि की कथाओं में प्रायः इतिहास प्रसिद्ध रजाओं के वृत्त लिये गये हैं, परन्तु इनमें ऐतिहासिकता से अधिक कवि कल्पनाओं का बोलबाला है। केवल नायकों का नाम और उनके जीवन की कुछ उल्लेखनीय घटानाएँ ही काव्य में स्थान पा सकी हैं, शेष कवि-कल्पित ही हैं। ऐसी कथाओं में नायिकाएँ प्रायः काल्पनिक ही हैं। ये पूर्णरूपेण तत्कालीन कवि रूढ़ियों के आधार पर कल्पित की गयी हैं। इन अर्द्ध ऐतिहासिक कथाओं में दामो-कृत लखमनसेन-पदमावती, जायसी कृत पद्मावत तथा नारायण दास कृत छिताईवार्ता,—तीन रचनाएँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनमें केवल नायक के नाम ही ऐतिहासिक हैं, उनके जीवन की घटनाएँ तथा नायिकाएँ प्रायः कवि कल्पनाप्रसूत हैं।

[३] तीसरे वर्ग के अन्तर्गत विशुद्ध रूप से कवि कल्पित कथाएँ आती हैं। प्रेमाख्यानक काव्यधारा के कवियों ने इन कथाओं की प्रेरणा पूर्व रचित साहित्य से ली। प्राकृत और अपभ्रंश तथा फारसी में अनेकों लोकप्रचलित कथाएँ निबद्ध की जा चुकी थीं। इन्हीं कथाओं से प्रेरणा लेकर हिन्दी के कवियों ने अपनी प्रेम

कथाओं की रचना की। माधावनल-कामकन्दला, यूसुफजुलेखा, लैला-मजनूँ, प्रेमदर्पण आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

(४) **लौकि कथाओं के माध्यल से अलौलिक तथ्यों की व्यंजना**—इस धारा की कृतियों में लोक-प्रचलित प्रेमकथाओं के वर्णन में ही अलौकिक (ईश्वरीय) प्रेम की व्यंजना करायी गयी है। अलौकिक तत्वों की व्यंजना के लिए ही कवि ऐतिहासिक या अर्द्ध ऐतिहासिक कथा को भी अपने अनुसार कल्पित करता देखा जाता है। प्रेम-वर्णन की यह पद्धति प्रायः अन्योक्त एवं समासोक्ति परक है। जायसी का पद्मावत तो पूरा का पूरा समासोक्ति-काव्य ही है। वहाँ एक ओर जहाँ रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम-कथा वर्णित है, वहीं इस कथा के साथ ही ईश्वरीय प्रेम भी व्यंजित किया गया है। इस धारा के मुसलमान सूफी कवियों के काव्य में यह पद्धति विशेषतया मिलती है। सूफियों की मान्यता है कि ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। आत्मा 'बन्दे' [साधक] के केरूप में परमात्मा के प्रति प्रेम में प्रवृत्त होती है। सूफी सन्त कवियों ने अपने काव्यों में आत्मा के परमात्मा तक पहुँचने के मार्ग में बाधक कठिनाइयों का वर्णन ही कथा रूप में प्रस्तुत किया है। आत्मा और परमात्मा के मिलन में शैतान बाधक बनता है, गुरु की सहायता से साधक शैतान द्वारा उत्पन्न की गयी बाधाओं को पारकर अन्त में ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। यही सारी स्थितियाँ प्रेमाख्यानक कृतियों की प्रमुख वर्ण्य वस्तुएँ हैं। इनके प्रत्याख्यान के लिए कवि कोई न कोई लौकिक प्रेमकथा ग्रहण करता है और उसी के माध्यम से नायक रूपी साधक द्वारा, नायिकारूपी ईश्वर की प्राप्ति का विविधात्मक वर्णन प्रस्तुत करता हैं। इसप्रकार प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की कृतियों में लौकिक प्रेम के चित्रण के माध्यम/से अलौकिक एवं अदृश्य तत्वों की व्यंजना, प्रायः, करायी गयी है। मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' इस दृष्टि से एक आदर्श काव्य है। 'पद्मावत के अन्त में कवि अपनी कथा तथा उसमें आये हुए पात्रों की अलौकिकता का प्रत्याख्यान भी कर देता है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुस के घट माँहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हियसिंहल बुधि पदिमनि चीन्हा॥

गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

इस प्रकार 'पद्मावत' की सारी लौकिक प्रेमकथा अलौकिक एवं सूक्ष्म तत्वों की व्यंजना भी कराती चलती है। राजा रत्नसेन मन है, उसकी नगरी चित्तौर ही काया है। सिंहलद्वीप हृदय, पद्मिनी बुद्धि है, नागमती दुनिया को फँसानेवाली माया है, राघव चेतन साधक को बाधा पहुँचानेवाला शैतान है और अलाउद्दीन अविद्या रूपी माया है। कथा के सभी पात्रों और सभी घटनाओं के वर्णन में अलौकिक तत्वों की सुष्ठु व्यंजना होती चलती है। दार्शनिक तथ्यों के प्रकटीकरण की यह अद्भुत पद्धति थी। क्लिष्टदार्शनिक चिन्तन की इतनी सहज एवं लोकरंजनकारी संघटनाभारतीय साहित्य के लिए अघिटत-घटना थी। प्रेमाख्यानक काव्यों में इसे सफलता पूर्वक घटित किया गया। केवल विधिध भारतीय दर्शनों और साधना पद्धितयों का ही नहीं, इस्लामदर्शन और साधना-पद्धितयों का भी इन काव्यों में मणिकांचन योग उपस्थित किया गया।

(५) सभी प्रेमाख्यानककाव्यकृतियों की कथा रूढ़ियाँ समान हैं— प्रेमाख्यानक काव्यों की कथा चाहे ऐतिहासिक हो या कविकल्पित, सभी में एक सी कथा रूढ़ियों का व्यवहार किया गया है। इन काव्यों में प्रयुक्त कुछ कथा रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं—

(१) नायिका का जन्म किसी द्वीप (प्रायः सिंहल द्वीप) में होना।

(२) परस्पर एक दूसरे के गुणों को सुनकर, स्वप्न में देखकर, या चित्र में देखकर नायक-नायिका में प्रेम का उत्पन्न होना।

(३) शुक, हंस, मैना आदि पक्षियों के माध्यम से नायक-नायिका में सन्देश का आदान-प्रदान।

(४) अप्सराओं, राक्षसों या अन्य किसी देवता की सहायता से नायक या नायिका का एक दूसरे के पास पहुँचना।

(५) नायक द्वारा नायिका की खोज का प्रयत्न, प्रायः वेश बदलकर योगी के रूप में।

(६) समुद्र यात्रा, उसके बीच जहाज का टूट जाना तथा नायक का किसी न किसी प्रकार बच जाना।

(७) नायक का भटकते हुए किसी अन्य प्रदेश में पहुँचना और वहाँ किसी सुन्दरी को किसी राक्षस या अत्याचारी के हाथ से मुक्त करवाना, तत्पश्चात् उससे विवाह कर लेना।

(८) फुलवारी या मन्दिर में नायक-नायिका की गुप्त भेंट।

(९) नायिका के पिता या अभिभावक से नायक का संघर्ष।

(१०) संघर्ष के बाद नायिका की प्राप्ति; दोनों का विवाह।

अनेक पत्नियों के साथ नायक का सुखोपभोग वर्णन नायक का अपने देश वापस लौटना, उसकी मृत्यु तथा उसके शव के साथ सभी रानियों का सती हो जाना।

ये कथा रूढ़ियाँ लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में समान रूप से मिलती हैं। इनके मूल उद्‌गम स्रोत के रूप में प्राकृत और अपभ्रंश की लोककथाएँ देखी जा सकती हैं। इसकी विस्तृत चर्चा पीछे की जा चुकी है।

(६) प्रेमाख्यानक काव्यों में भारतीय दर्शन, योग और इस्लाम साधना-पद्धतियों का अद्‌भुत समन्वय उपस्थित किया गया—

प्रेमाख्यानक काव्य-कृतियों में एक ओर तो इस्लाम के ऐकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद का अद्‌भुत सम्मिश्रण है, दूसरी ओर साधना के क्षेत्र में इस्लाम की चार प्रमुख साधना स्थितियों, **शरीयत, तरीकत, हकीकत** और **मारिफत** तथा भारतीय हठयोग क्रियाओं का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार इस्लाम में साधना की चरम परिणति—अन्-अल्-हक्क (मैं ही ईश्वर हूँ), भारतीय वेदान्त की "अहंब्रह्मास्मि" की स्थिति से निकट से सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रेमाख्यानक काव्य धारा के कवियों ने दो दर्शनों को एकत्र स्थापित कर सांस्कृतिक समन्वय का महान् कार्य पूर्ण किया। प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के कवियों ने ईश्वर की जो कल्पना की वह भारतीय 'ब्रह्म

कल्पना' के बहुत निकट है। अन्तर केवल इतना ही है कि, जहाँ भारतीय दर्शन में चित्रित ब्रह्म की प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान है, वहीं प्रेमाख्यानक कवियों ने अपने ईश्वर की प्राप्ति का साधन 'प्रेम' को माना। इनकी साधना पद्धति में 'प्रेम की पीर' को ही विशेष महत्व दिया गया। प्रेम की इसी विशदता के कारण इनका ईश्वर सम्बन्धी चिन्तन रहस्यवादी भी हो गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रेमाख्यानक परम्परा के कवियों ने दो धर्मों और उनकी संस्कृति को एक स्थान पर ला बैठाने और उनके मनोमालिन्य को मिटा देने का अभूतपूर्व प्रयास किया। इनके काव्यों में उच्चकोटि के दार्शनिक चिन्तनों और अतिसाधारण लोक जीवन की अनुभूतियों का भी अद्भुत समन्वय हुआ। लौकिकता एवं अलौकिकता का रमणीक संगम तथा स्थूल वर्णनों में ही सूक्ष्म तत्वों की व्यंजना इन काव्यों की अनूठी विशेषताएँ हैं। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में धर्मान्धिताग्रस्त समाज को इन कवियों ने आपस में मिलकर रहने की एक अत्यन्त सहज एवं प्रभावकारी प्रेरणा दी। इन कवियों की रचनाओं के अन्तराल में विद्वान् आलोचक प्रचारात्मकता की गन्ध भले ही पाएँ, पर जाने या अनजाने इन कवियों ने जो कुछ भी किया, वह उस विवादग्रस्त समाज के लिए अतीव लाभप्रद सिद्ध हुआ।

(७) प्रेमाख्यानक काव्यों पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है—

कुछ विद्वान् आलोचकों ने प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के कवियों को सूफी (इस्लाम) धर्म का अनुयायी बताया है। उनका यह मत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जहाँ तक प्रेमाख्यानक काव्यों की कथावस्तु का सम्बन्ध है, पहले विस्तार से प्रतिपादित किया जा चुका है कि वह प्राकृत-अपभ्रंश की प्रेम-कहानियों से ली गयी है, उस पर फारसी की मसनवी शैली की रचनाओं का प्रभाव नहीं है, सारी कथारूढ़ियाँ भी भारतीय ही हैं। कथाओं में आये हुए पात्रों का व्यवहार, उनकी मान्यताएँ और यहाँ तक कि घटनाओं का वातावरण, सभी कुछ भारतीय हैं।

यह तो हुई कथावस्तु की बात, दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भी हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के कवि भारतीय अद्वैतदर्शन, निर्गुण ज्ञानसाधना एवं

बामपंथियों की योग पद्धति से अधिक प्रभावित हैं। यहाँ प्रत्येक का अलग-अलग विवेचन उपयुक्त होगा—

(क) **अद्वैत का प्रभाव**—प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के कवियों में विशेषतया मुसलमान सूफी कवियों की एकेश्वरवादी मान्यता भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना उचित होगा, जहाँ तक इस्लाम धर्म में दार्शनिक चिन्तन के उदय का प्रश्न है, वह सूफी सन्तों के हाथों हुआ, और ये सूफी सन्त प्रायः भारत में ही रहे हैं। जिस समय (६२२ ई०) स्वयं इस्लाम धर्म का उदय हुआ, भारतीय दर्शन अपनी उन्नति के चरम शिखर पर था और उस समय नवोदित इस्लाम के पास कोई दृढ़ दार्शनिक आधारशिला नहीं थी। भारतीय संस्कृति के महान् चेताश्रीरामधारी सिंह दिनकर का दृढ़ मन्तव्य है कि इस्लाम धर्म में दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ १०वीं शती के बाद सूफी सन्तों के हाथों हुआ और ये सभी सूफी सन्त भारत से सम्बन्धित थे। ऐसी स्थिति में इस्लाम का एकेश्वरवाद, प्रकारान्तर से भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रभाव कहा जा सकता है। प्रेमाख्यानक कवियों का ईश्वर तो निश्चित ही अद्वैतवादी ब्रह्म का प्रतिरूप है। उनका ईश्वर सृष्टि का कर्ता, अलख, अनादि, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, सर्वव्यापी, अनन्त और अवर्णनीय है। भारत में ब्रह्म की इन विशेषताओं की स्थापना इस्लाम धर्म के अभ्युदय के शदियों पहले हो चुकी थी। सूफियों को शैतान की कल्पना अद्वैत के माया प्रपञ्च की प्रतिरूप है। गुरु की महत्ता तो भारतीय जीवन में अनन्तकाल से अक्षुण्ण रही है। कुल मिलाकर प्रेमाख्यानक कवियों में विशेषतया सूफियों का ईश्वर निश्चित रूप से भारतीय दर्शन की अद्वैतवादी ब्रह्म कल्पना से प्रभावित है।

(ख) **साधना के क्षेत्र में भारतीय नाथपंथी योगियों का प्रभाव**—प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा में आयी, हुई कथाओं में चित्रित साधनापक्ष को कुछ आलोचक विदेशी बताते हैं, परन्तु उनका यह निष्कर्ष खींच-तान पर ही आधारित है। प्रेमाख्यानक काव्यों में चित्रित साधना पद्धति निश्चित रूप से नाथपंथी योगियों की हठयोग पद्धति है, हाँ उसका नाम अवश्य फारसी है। परन्तु नाममात्र परिवर्तित कर देने से कोई तथ्य नहीं बदल जाता। साधना की इन पद्धतियों को

विदेशी बताने वाले विद्वान् सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि शारीरिक साधनों द्वारा परमशान्ति की प्राप्ति; जिसकी पद्धति को हठयोग नाम दिया गया है; वह भारत की अपनी वस्तु है, फिर भी नवोदित इस्लाम तो इस पद्धति को अपनी कहने का दावा कर ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त प्रेमाख्यानक काव्यों में जिन योगियों का चित्रण किया गया है, वे भारतीय योगी ही हैं। पद्मावत में 'रत्नसेन' के योगी-वेश-वर्णन को देखकर कोई भी कह सकता है कि वह नाथ-पंथी योगी है सूफी फकीर नहीं। यह स्थल द्रष्टव्य है—

तजा राज-राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ वियोगी॥
+ + +
मेखल, सिंगी, चक्र, कंथारी।
जोग बाट, रूदराछ, अधारीं॥
कंथा पहिर दंड कर गहा।
सिद्ध होइ कहं गोरख कहा॥

इस स्थल पर तो गोरखनाथ का नाम भी आ गया है। उसमान की चित्रावली में आया हुआ योगी वर्णन भी द्रष्टव्य है—

सिंगी पूरहु जटा बरावहु।
खप्पर लेहु भीख जेहि पावहु॥
काँधे लेहु बाहि मृग छाला।
गीवं पहिरहु रुद्राष क माला॥
अरहु कान जनि एकहु कहै कोउ जो लक्ख।
पहिर लेहु पग पाँवरी-बोलहु सिरि गोरक्ख॥

मंझन कृत मधुमालती, नूर मोहम्मदकृत मृगावती आदि में भी योगियों का वर्णन इसी प्रकार का है। इतना ही नहीं योगियों को संकट ग्रस्त देख, उनके उपास्य देवाधिदेव शिव को उनकी रक्षा भी करते हुए दिखाया गया है। इस प्रकार के वर्णनों से स्वयं ही स्पष्ट होता है कि प्रेमाख्यानक कवियों ने यदि किसी पंथ

का प्रचार किया था तो वह नाथ-पंथ है, न कि कोई अन्य विदेशी पंथ। कुछ आलोलकों ने, नाथ-पंथो योग साधनाओं को व्यक्त करने वाले स्थलों की बलात्कारेण खींचतान करके उनमें सूफी साधना पद्धति के निदर्शन का प्रयास किया है, परन्तु यह प्रयास न तो तर्क संगत हो है, और न उपयुक्त ही। इस प्रकार के प्रयासों ने काव्य की पंक्तियों में निहित काव्यात्मकता को भी धूल में मिला दिया है। सूफो साधना की जिन चार स्थितियों में हठयोग के विस्तृत कलेवर को बाँधने का प्रयास किया गया है, वह उपयुक्त नहीं है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पूरी की पूरी हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा; चिन्तन तथा साधना दोनों ही क्षेत्रों में क्रमशः भारतीय अद्वैत सिद्धान्त और नाथ पंथी हठयोग का अनुसरण करती है, न कि विदेश' प्रभाव से ग्रस्त है। प्रेमाख्यानक काव्यों की दार्शनिक चिन्तन पद्धति और साधना पद्धति को भारतीय बताते हुए, डा० गणपति चन्द्र गुप्त लिखते हैं "...............इनमें सूफी विचारधारा की अपेक्षा भारतीय अद्वैत-दर्शन, निर्गुण ज्ञान-साधना एवं नाथ-पंथियों की योग-पद्धति का ही प्रतिपादन अधिक हुआ है। अवश्य ही इनमें से कुछ कवि सूफी मतानुयायो थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन नहीं किया। जिस प्रकार जायसी, मंझन आदि ने मुसलमान होते हुए भी मुस्लिम पात्रों की अपेक्षा हिन्दू पात्रों का अधिक उत्कर्ष दिखाया है तथा मुस्लिम संस्कृति की अपेक्षा हिन्दू संस्कृति का अधिक चित्रण किया है, उसी प्रकार अनेक कवियों ने सूफी मतानुयायी होते हुए भी, भारतीय दर्शन को अधिक चर्चा की है। इतना ही नहीं, उन्होंने जिस शब्दावली एवं जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वे भी भारतीय दर्शन-शास्त्रों से गृहीत हैं।"

(८) **प्रेमाख्यानक परम्परा की कृतियाँ प्रायः उच्च कोटि की प्रबन्धात्मकता से युक्त हैं**—हिन्दी प्रेमाख्यानककाव्यपरम्परा की अधिकांश कृतियाँ प्रबन्धकाव्यों के रूप में रचित हैं। इनकी कथावस्तु, वर्णन पद्धतियाँ तथा सुष्ठु आलंकारिक योजनाएँ, सभी श्रेष्ठ प्रबन्ध कृतियों के उपयुक्त हैं। परन्तु इतना होते हुए भी इनकी कथावस्तु कहीं-कहीं बिखर गयी है या फिर उसका प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। ऐसे स्थल वे हैं जहाँ इस परम्परा का कवि कथा कहना छोड़ कर दार्शनिक तथ्यों की विवेचना पर उतर आता है, यहाँ कथा की प्रबन्धा-

त्मकता तो बिखर ही जाती है, साथ ही सैद्धान्तिक विवेचन भी थोपा गया सा लगने लगता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धात्मकता को आघात उन स्थलों पर भी पहुँचता है, जहाँ कवि वस्तुओं की नाम परिगणना के चक्कर में पड़ जाता है। इस प्रकार के कुछ स्थलों को छोड़ कर शेष, उच्चकोटि की प्रबन्धात्मकता से युक्त हैं। इन काव्यों की भाषा अत्यन्त ललित और लोक जीवन के निकट है। प्रायः अधिकतर काव्यों की भाषा ग्रामीण अवधी रही है। इनकी छन्द योजना भी प्रबन्धकाव्योचित है। प्रायः अधिकतर ग्रंथ चौपाई और दोहे में लिखे गये हैं। पूरे ग्रंथ में इन्हीं दो छन्दों का व्यवहार देखने में आता है।

इन काव्य-ग्रंथों की अलंकार योजना भी उच्च कोटि की है। काव्य में प्रचलित लगभग सभी प्रसिद्ध अलंकारों का प्रयोग इन कृतियों में देखा जा सकता है। अतिशयोति, अन्योक्ति, समासक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त सराहनीय है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि इस परम्परा की अधिकतर कृतियाँ सभी प्रबन्धकाव्योचित विशेषताओं से युक्त हैं।

इस परम्परा की कुछ कृतियाँ मुक्तक शैली में भी लिखी गयी हैं। इस शैली की कृतियों में लोक-जीवन तथा काव्यों में प्रचलित पद, दोहे, झूलने, कुण्डलियाँ भजन तथा चौपाई आदि छन्दों का व्यवहार हुआ है। प्रेम काव्य की मुक्तक शैली के दोहों की व्यंजनात्मकता और प्रभावात्मकता का तो कहना ही क्या। ये दोहे अपनी शैलीगत सजीवता मँजी हुई भाषा और अर्थगत व्यंजना के कारण अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। इस शैली में रचना करने वाले कवियों में सर्वप्रमुख अमीर खुसरो हैं।

(९) **प्रेमाख्यानककाव्यों की भावव्यंजना अत्यन्त मनोहारी और उच्च कोटि की है**—प्रेम कथा काव्यों में मानवीय भावों की व्यंजना अत्यन्त विशद है। इस परम्परा का कवि लोकव्यवहार और रीति-रिवाजों का पटु ज्ञाता है। मानवीय सुख-दुःखों का उसे अच्छा ज्ञान है। अतः उसकी भाव व्यंजना अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावकारी है। इस परम्परा की कृतियों का मूल उद्देश्य शृंगार भावना की व्यंजना कराना ही रहा है। परन्तु इसी के दो पक्षों संयोग और

वियोग के वर्णन के बीच वह 'शोक' आदि भावों की व्यंजना में भी अत्यन्त सफल रहा है। 'रति' की व्यंजना का तो कहना ही क्या, वह तो कवि का साध्य ही है। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना ही उसकी काव्य-रचना का लक्ष्य है और इसके चित्रण में वह आत्मस्थ होकर रहस्यात्मकता की ऊँचाई तक पहुँच गया है। ऐसे स्थलों पर कवि के भाव इतने विशद हो गये हैं कि उसका प्रेम मानवीय न होकर ईश्वरीय हो उठा है। ऐसे स्थलों पर वह रहस्यवादी हो उठा है।

अस्तु ! कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की कृतियाँ अपनी मार्मिक स्थलों की बहुलता, उदात्त ऐतिहासिक कथा-वस्तु, भाषा की विलक्षण शक्ति, अपने गम्भीर सर्वाङ्गीण अनुभव और सशक्त दार्शनिक चिन्तन के कारण हिन्दी भाषा एवं साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियाँ हैं।

—:❀:—

११

मलिक मुहम्मद जायसी

मालिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी गणना तुलसी और सूर के समकक्षकवि के रूप में किया है। मुसलमान होते हुए भी जायसी ने भारतीय संस्कृति की जो भव्य उपासना की है, वह भारतीय हिन्दुओं तक के लिए उदाहरण की वस्तु है। जायसी भौतिक जीवन से विरक्त एक वैरागी थे; परन्तु वैराग्य धारण करते हुए भी इन्हें लौकिकता से लगाव बना रहा, यह तथ्य इनकी प्रेमाख्यानक कृतियों में स्पष्ट ही उद्‌भासित होता है। इनके जीवन से सम्बन्धित बातों की चर्चा आगे की जायेगी।

जन्म-तिथि—

जायसी ने अपनी 'आखिरी कलाम' नामक कृति में अपनी जन्म तिथि का उल्लेख स्वयं ही किया है।

> "भा अवतार मोर नव सदी।
> तीस बरिस कवि ऊपर बदी॥
> आवत उधत चार बड़ ठाना।
> भा भूकंप जगत अकुलाना॥ आ-४-१-२॥

इस कथन से स्पष्ट होता है कि जायसी का जन्म नवीं शदी हिजरी अर्थात् १३९८-१४९४ ई० के बीच कहीं हुआ। यदि नवीं सदी का तात्पर्य ९०० हिजरी मान लिया जाये तो जायसी का जन्म १४९४ में पड़ता है। परन्तु यह तिथि मान लेने पर उनके जीवन की अन्य तिथियों से इसका कोई मेल नहीं बैठता। उनकी प्रसिद्ध कृति पद्‌मावत' की रचना १५२०-४० के बीच में हुई और

उस समय कवि वृद्ध हो चुका था। इसके अतिरिक्त ऊपर ही के उल्लेख के अनुसार कवि ने अपनी प्रथम रचना ३० वर्ष की आयु में प्रारम्भ की, परन्तु इनकी प्रथम कृति 'आखिरीकलाम' १५३२ में रची गयी, उस समय दिल्ली का सुल्तान बाबर था।

बाबर शाह छत्रपति राजा।
राज पाट उनका विधि साजा॥
× × ×
नौ सै बरिस छतिस जो भये।
तब एहि कविता आखर कहे॥

उपर्युक्त पद्य में जायसी ने जिस तूफान का उल्लेख किया है वह ९११ हिजरी (१५०५ ई०) में आया था। परन्तु जायसी के जन्म काल का तूफान यह नहीं हो सकता। जायसी का जन्म इसके बहुत पहले ही हुआ होगा। जहाँ तक उनकी निश्चित जन्म-तिथि का प्रश्न है वह आज भी अन्धकार में है। ऊपर आये हुए उल्लेख में 'नवसदी' का तात्पर्य यदि ९०० हिजरी न लेकर नवीं शदी हिजरी लिया जाये तो जायसी का जन्म १४-१५वीं शदी के बीच कहीं हुआ होगा। हाँ इनका रचनाकाल लगभग निश्चित सा है, क्योंकि इन्होंने अपनी प्रत्येक कृति में समसामायिक बादशाह का उल्लेख किया है।

इनके ग्रन्थों में कई ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख है। जैसे बाबर का राज्यकाल, हुमायूँ का राज्यारोहण (९३६ हि०) चौसा में शेरशाह का हुमायूँ को हराना (९४५ हिजरी), शेरशाह का दिल्ली का सिंहासन पर आरूढ़ होना (९४८ हिजरी)। ये सभी घटनाएँ १५२० ई० और १५४५ ई० के बीच घटित हुईं, अतः यही कवि का रचना काल है। 'पद्मावत' के आरम्भ करने की तिथि कवि इस प्रकार देता है—

सन नौ सै सत्ताइस अहा।
कथा अरम्भ बैन कवि कहा॥

९२७ हिजरी का मतलब सन् १५२० ई० में कवि ने पद्मावत की रचना प्रारम्भ की, और यह शेरशाह के राज्यकाल १५४० के बाद पूर्ण हुई। पद्मावत

जैसे महान् ग्रंथ की रचना में यदि कवि की लगातार २० वर्षों की साधना निहित है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, या फिर हो सकता है कवि ने इसकी रचना का प्रारम्भ १५२० ई० में कर तो दिया हो परन्तु कुछ कारणोंवश उसे पूर्ण न कर सका हो और फिर आगे चलकर शेरशाह के शासनकाल में इसे पूर्ण किया हो। ग्रन्थि की समाप्ति शेरशाह के शासनकाल में ही हुई, इसका समर्थन पद्मावत में आयी हुई शेरशाह की प्रशंसा से भी होता है। इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट होता है कि शेरशाह ने जायसी का सम्मान भी किया था और उसको जायसी ने अपने आशीर्वचन भी दिया। वह स्थल द्रष्टव्य है—

शेरसाहि देहली-सुलतानू। चारिव खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजै भुइ धरा लिलाटा॥
जाति सूर औं खांडे सूरा। औ बुधिवंत सबै गुन पूरा॥
सूर नवाए नव खंड वई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लगिराजखड़गकर लीन्हा। इसकन्दर जुलकरन जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमां केरि अँगूठी। जग कहँ दान दीन भरि मूठी॥
औ अति गुरू भूमिपति भारी। टेकि भूमि सब सिहिट सँभारी॥
दीन असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
बादशाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज।

इसी प्रसंग में आगे जायसी शेरशाह के जगत में सबसे बड़ा दानी होने का उल्लेख भी करते हैं। शेरशाह के शासनकाल के बाद की घटनाओं का उल्लेख जायसी कहीं नहीं करते, अतः उसी के शासन काल के लगभग उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में एक किम्बदन्ती प्रसिद्ध है। जायसी एक सिद्धयोगी थे। वे जंगल में रहते हुए कभी-कभी अपने योग-बल से व्याघ्र का रूप भी धारण कर लेते थे। एक बार इसी रूप में विचरण करते समय वे एक शिकारी की गोली से आहत होकर, मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तु इस घटना में कोई तथ्य नहीं है, जायसी की मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई थी। अमेठी के राजा के यहाँ उनका पर्याप्त सम्मान था। अमेठी के राज-भवन के पास आज भी उनकी कब्र मौजूद, बतायी जाती है।

जीवन चरित्र

एक जनश्रुति के अनुसार जायसी गाजीपुर जिले के एक अत्यन्त दरिद्र मुसलमान के पुत्र थे। बाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु हो गयी। इनकी माँ बीमार पुत्र को छोड़ कर चल बसीं। जायसी को उस समय चेचक की बिमारी हुई थी। इसी में उनकी एक आँख जाती रही, और चेहरा भी अत्यन्त कुरूप हो गया। कुछ साधुओं ने जायसी का पालनपोषण किया। जायसी ने अपने ग्रन्थों में अपने जन्म स्थान का उल्लेख तो कहीं नहीं किया; हाँ, पद्मावत में उन्होंने 'जायस' (रायबरेली) का उल्लेख अवश्य किया है—

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन बखानू॥

जायसी का धर्म स्थान 'जायस'। था यह स्पष्ट है। वे यहाँ कहीं बाहर से आये थे, इस पर विद्वान् एक मत नहीं हैं। ऊपर के पद्य मे 'तहाँ आइ, पद में इस इस ओर संकेत है कि वे कहीं बाहर से आकर यहाँ बसे होंगे। 'अखिरीकलाम' के उल्लेख से भी यही स्पष्ट होता है कि वे अतिथि के रूप में जायस गये। परन्तु वहाँ कोई ऐसी घटना घटी कि उन्हें वैराग्य हो गया। इसके बाद उन्होंने भौतिक प्रपञ्चों से छुटकारा पाकर, परम ज्योति की प्राप्ति की ओर ध्यान लगाया। 'आखिरी कलाम' का वह स्थल द्रष्टव्य है—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर का नाम आदि उदयानू॥
तहां देवस दस पहुँने आएउं। भा बैराग बहुत सुख पायउँ॥
सुख भा सोच एक दुख मानौं। ओहि बिनु जिवन मरन कैजानौ॥
नैन रूप मो गयउ समाई। रहा पूरि भरि हिरदै छाई॥
जहँवै देखौं तहँवै सोई। औंर न आव दिस्टतर कोई॥
आपुहि देखि-देखि मन राखौं। दूसर नाहि सो कासौं भाखौं॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुन दरसन आपुहि देखा॥

[**आखिरी कलाम १०-२-७**]

वैराग्य का उदय होते ही जायसी आत्मस्थ हो कर सारी सृष्टि में परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखने लगे उस परमात्मा के प्रेम में उनका रोम-रोम विह्वल हो उठा और उसी कीप्राप्ति के लिए उनका मन छटपटाने लगा। जायसी के मन में वैराग्य उत्पन्न करने वाली घटना क्या थी, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। बचपन से ही दुखों के बीच पलने के कारण जायसी का मन प्रारम्भ से ही वैराग्य की ओर आकृष्ट हो गया था, साधुओं की संगति ने उसे और बढ़ावा दिया। हो सकता है, जायसी में किसी महात्मा के संसर्ग से पूर्ण वैराग्य का उदय हो गया है।

जायसी उच्चकोटि के चिन्तक होने के साथ ही अत्यन्त विनम्र और मिष्ट भाषी थे। उनके कुरूप शरीर में एक अत्यन्त स्वच्छ हृदय का निवास था। चेचक में उनकी बायीं आँख और बायाँ कान, जाते रहे। जायसी इस शरीरिक हानि को भी ईश्वर का अनुग्रह ही समझते हैं—

मुहम्मद बाईं दिसि तजी एक सरवन एक आँखि ॥
जगते दाहिन होइ मिला, बोलु पपीहा पाँखि ॥

वाम मार्ग में अनेकों दोष हैं, इसीलिए कवि ने बांयों दिशा का परित्याग ही कर दिया। प्रियतम दक्षिण (दयालु) होकर मिला। अच्छा है, एक हीआँख और कान रह गये, अब केवल उन प्रियतम को ही देखूँगा और उसी की वाणी का श्रवण करूँगा।

ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार शेरशाह इनके कुरूप चेहरे को देख कर हँसा। जायसी ने कहा—

मो कहँ हँससि कि कोहरहिं

'तू मुझ पर हँस रहा है या इस शरीर के निर्माणकर्ता कुम्हार पर'—उत्तर सुनकर शेरशाह अवाक् रह गया।

अपनी एक आँख जाने का जायसी को थोड़ा भी दुःख नहीं था। गुण के साथ दोष का मिला देना प्रकृति का स्वभाव ही है। चन्द्रमा अत्यन्तसुन्दर हैं पर उसमें भी कलंक है। उनकी एक आँख में ही शुक्र के समान तेज है।, वे उसी से सारी सृष्टि को भली भाँति देख सकते हैं। जो भी उनकी कुरूपता को देखकर

हँसते थे उनकी बातें सुनकर आँसू भर लेते थे। पद्मावत का स्पष्टवादी कवि कहता है —

एक नैन कवि मुहम्मद गुनी। सोइविमोहा जेइं कवि सुनी ।।
चाँद जइस जग विधि अवतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा।।
जग सूझा एकइ नैनाहा। उवा सूर अस नखतन्ह माँहा ।।
जौ लहि अंबहिं डाभ न होई। तौ लहि सुगंधि बसाइ न सोई ।।
कीन्ह समुंद पानि जौ खारा। तौ असि भएउ असूझ अपारा ।।
जौं सुमेरु तिरसूल विनासा। भा कंचन गिरि लाग अकासा ।।
जौं लहि घरी कलंकन परा। काँच होई नहिं कंचन करा।।
एक नैन जस दरपन औ तेहि निर्मल भाउ।
सब रुपवंत पाँव गहि, मुख जोवहिं कइ चाउ ।।

कुरूप होते हुए भी संसार के जितने रूपवान हैं कवि कोसश्रद्ध प्रणाम करते हैं। रूप देखकर हँस पड़ने वाले उनकी बातें सुनकर रो पड़े—

जेइँ मुख देखा तेइँ हँसा सुना तो आए आँसु।

इस प्रकार कवि को अपनी कुरूपता पर क्षोभ नहीं गर्व है। वह मन के सौन्दर्य को देखता है, उसकी दृष्टि में बाह्य सौन्दर्य का कोई मूल्य ही नहीं।

इसके अतिरिक्त जायसी अत्यन्त विनम्र और मिष्टभाषी भी थे, उन्हें अपने कवित्व पर थोड़ा भी गर्व नहीं था। पद्मावत में वे कहते देखे जाते हैं—

हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा।
किछु कहि चला तबल दइडगा ।।

मलिक मुहम्मद जायसी जीवन पर्यन्त मानवता के सच्चे पुजारी रहे। उन्होंने अपनी जीवन और जगत सम्बन्धी अनुभूतियाँ अत्यन्त स्वच्छन्द रूप से व्यक्त कीं। उन्हें किसी धर्म विशेष से लगाव नहीं रहा। उनका तो विश्वास ही था—

एक चाक सब पिंडा चढ़े ।।
भाँति-भाँति के भाँड़ा गढ़े ।।

जैसे एक ही चाक पर भाँति-भाँति के मिट्टी के बर्तन बनाये जाते हैं, वैसे

ही नानारूपात्मक सृष्टि एक ही परमपिता परमेश्वर की रचना है। जायसी इसी परमसत्ता का प्रतिबिम्ब जगत की प्रत्येक वस्तु में देखते हैं। इसी विशद दृष्टिकोण के कारण वे धर्म और जाति के आग्रह से परे, मानवता के उद्धारक सच्चे कवि हैं।

जायसी की गुरु परम्परा—

पहले जायसी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला जा चुका है। उनके व्यक्तित्व में पायी जाने वाली उदार प्रेमपरक दृष्टि और सार्वभौमिकता की भावना, उनमें एकाएक उदित नहीं हो गयी, यह सभी कुछ उन्हें अपनी गुरु परम्परा से मिला था। जायसी के ही समान कितने ही मुसलमान सन्त-साधक इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच पड़ी हुई विरोध की खाईं के पाटने का प्रयास कर चुके थे। जहाँ एक ओर मुसलमान शासक हिन्दू जनता पर तरह-तरह के अत्याचार कर रहे थे, वहीं ये सन्त साधक जनता के बीच पहुँचकर, जनता की ही भाषा में परमपिता परमेश्वर तथा प्रेम की अद्‌भुत शक्ति का गुणगान कर उन्हें सान्त्वना दे रहे थे। भारत में ऐसे मुसलमान धर्म गुरुओं की गद्दियों का प्रसार कई भागों में था, और इनके असंख्य शिष्य मानवता के कल्याण के लिए कार्य कर रहे थे। इन धर्म गुरुओं के हाथों इस्लाम और हिन्दुत्व का बहुत कुछ विरोध मिटता जा रहा था। इनके महान् कार्य की सराहना करते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं—"इन्होंने इस्लाम धर्म को विचारों के एक नये साँचे में ढाल दिया जिसमें भारतीय धर्म परम्परा के साथ इस्लामी विचारों का उदार समन्वय हो गया। कायासाधना, ध्यान, उपवास, व्रत, नाम-जाप, गुरु-महिमा, आत्मा की परमात्मा के साथ एकता, पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता, हृदय कमल या हृदय-गुफा में ईश्वरीय-ज्योति का दर्शन, साक्षत्कार द्वारा अनुभव, ईश्वर के प्रति गाढ़ अनुराग, उसकी प्राप्ति के लिए आतुर, साधक की साधना और आत्मा-परमात्मा के बीच स्त्री-पुरुष की प्रेमपद्धति की सर्वात्मना स्वीकृति—ऐसी कितनी ही युक्तियों, परिभाषाओं और मान्यताओं का जनता में प्रचार करते हुए सूफी सन्तों और कवियों ने धर्म दर्शन और काव्य की त्रेधा शक्ति को एक में मिलाकर समाज में ऐसी नवीन प्रेरणा को जन्म दिया जिसकी सरसता, उदारता और

प्रत्यक्ष भाव ने जनता पर मोहनी डाल दी ।" इन सूफी सन्तों ने इन सभी भावनाओं का प्रसार जनता की ही भाषा में किया था। प्रायः सभी ने अवधी-भाषा का व्यवहार किया। इसी भाषा को वे 'हिन्दुई' कहते थे। इन्हीं धर्म गुरुओं की भावनाओं एवं मान्यताओं का पूर्ण प्रतिबिम्ब जायसी की रचनाओं में परिलक्षित किया जा सकता है । जायसी के पूर्व गुरुओं की एक लम्बी परम्परा है, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ही 'पद्मावत' में किया है—

सैयद असरफ पीर-पियारा। जेहि मोंहि दीन्ह पंथ उजियारा ।।
ओहिघर रतन एक निरमरा । हाजी सेख सबै गुन भरा ।।
तेहिघर दुइ दीपक उजियारे। पंथ देइ कहि देव संवारे ।।
सेख मुहम्मद पून्यो करा । सेख कमाल जगत निरमरा ।।

इन पंक्तियों में 'जायसी' ने सदैव असरफ पीर के घराने के प्रति सम्मान व्यक्त किया है। भारत में सूफी सन्तों के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे—

(१) सुहरावर्दिया।
(२) चिश्तिया।
(३) कादिरिया।
(४) नक्शबंदिया।

इन चारों में से सैयद असरफ पीर (जहाँगीर) का संबंध चिश्तिया सम्प्रदाय से था। ये फैजाबाद जिले के 'कछौछा' स्थान के निवासी थे। इनका समय ८वीं-९वीं शदी है।

जायसी के गुरु का नाम मोहदी (मेंहदी) था 'पद्मावत' में इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया हैं—

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा ।।
अगुआ भएउ सेखबुरहानू। पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गिआनू ।।
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोशन सुरखुरू ।।
सैयद मुहम्मद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहिं खेला ।।

दानियाल गुरु पंथ लखाए। हज़रत ख्वाजा खिजिर तिन्ह पाए ।।
भए परसन ओहि हजरत ख्वाजे। लइ मेरइ जहँ सैयद राजे ।।
उन्हसौं मै पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी ।।
ओइ सो गुरु हौं चेला निति विनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखइ पावौं दरस गोसाईं केर ।।

"गुरु मोहदी खेने वाले है; मै उनका सेवक हूँ। उनका पतवार तेजी से चलता है। उनके मार्गदर्शक शेखबुरहान थे। उन्होंने मोहदी को मार्ग पर लाकर ज्ञान दिया। बुरहान के श्रेष्ठ गुरु अलहदाद थे, जो दीन और दुनिया को भली-भाँति जानने वाले और तेजस्वी थे। वे (अलहदाद) सैयद मुहम्मद के शिष्य थे, जिनकी सिद्ध पुरुषों की संगति थी। सैयद मुहम्मद को गुरु दानियाल ने मार्ग दिखाया था। हजरत ख्वाजा बख्श से कहीं उनकी भेंट हो गयी। हजरत ख्वाजा उन पर प्रसन्न हो गये और जहाँ सैयदराजे (हामिदशाह सूफी) थे, वहाँ ले जाकर मिला दिया। उन गुरु मोहदी से जब मैंने कर्म की योग्यता पायी; तो मेरी जिह्वा खुल गयी और प्रेम-काव्य का वर्णन करने लगी। उन जैसे गुरु का मै चेला हूँ। उनका सेवक बनकर नित्य उनकी विनती करता हूँ। उनकी कृपा से ही मै भगवान् का दर्शन प्राप्त कर सकूँगा।

जायसी ने 'पद्मावत' में अपने चार मित्रों का भी उल्लेख किया है। ये थे मलिक यूसुफसलार, कादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख। सम्भवतः 'जायस' आने पर ही जायसी को ये मित्र मिले होंगे। इन मित्रों में बड़े शेख सिद्ध पुरुष थे, यूसुफ मलिक भी प्रकाण्ड पण्डित व ज्ञानी थे। शेष दो मित्र युद्धवीर थे। उन्हे अनेकों युद्धों में भाग लेने का अवसर मिला था। इन मित्रों ने निश्चित ही जायसी पर किसी न किसी रूप में प्रभाव डाला होगा। बड़े शेख का प्रभाव तो निश्चित सा है। जायसी इन सभी मित्रों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

चारिमीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए ।।
यूसुफमलिक पँडित बहुज्ञानी। पहिलै भेद बात वै जानी ।।
पुनि सलार कादिम मति माँहाँ। खाँडे दान उभै निति बाहाँ ।।
मियाँ सलोने सिंघ बरियारु। बीर खेतरन खड़ग जुझारु ।।

शेख बड़े बड़ सिद्ध बखाना। किए आदेश सिद्ध बड़ माना ॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। औ संजोग गोसाईं गढ़े ॥
मुहमद चारिउ मीति मिलि, भए जो एकइ चित्त।
एहिजग साथ जो निबहा, ओहिजग बिछुरन कित्त ॥

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर यह स्पष्ट है कि जायसी के व्यक्तित्व में जितने भी गुण हैं वे सब के सब उनकी सम्पन्न गुरु-परम्परा और मेधावी मित्र मण्डली के कारण हैं। जायसी ने सभी कुछ परम्परा से ग्रहण करते हुए भी उसे अपनी निज की अनुभूतियों के रंग में रँग कर प्रस्तुत किया। सूफी सन्त परम्परा वैसे भी भारतीयता से प्रभावित थी, जायसी जैसे विशुद्ध भारतीय मुसलमान चिन्तक के हाथ यह प्रभाव और भी निखर उठा। जायसी का एक उदार भारतीय मन उनकी कृतियों में सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता है। जिस युग में जायसी हुए वह युग दो धर्मों और संस्कृतियों के द्वन्द्व का युग था। कबीर जैसे उद्बुद्ध ज्ञानी सन्त इस द्वन्द्व को मिटाने का प्रयास कर चुके थे परन्तु उनका प्रयास खण्डन-मण्डन तक ही सीमित रहा, वे केवल सामाजिक उपदेश ही दे सके थे। जायसी जैसे सूफी कवियों ने अत्यन्त विस्तृत सांस्कृतिक स्तर पर इस द्वन्द्व को मिटाने का प्रयास किया। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को कोमल अनुभूतियों में लपेटकर प्रस्तुत किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन कवियों के हाथों धर्म, दर्शन और काव्य रूपी त्रिवेणी का जो एकत्र संगम हुआ वह मनोरम होने के साथ ही भारतीय हिन्दू और मुसलमान के दग्धमन को अद्भुत शान्ति और पवित्रता देने में भी सहायक हुआ। इस प्रकार का महान् कार्य सम्पन्न करने वाले सूफी सन्त साधकों में जायसी का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए।

जायसी की रचनाएँ—

आचार्य पं० रामचन्द्र सुक्ल ने जायसी की तीन रचनाओं का उल्लेख किया था—'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी-कलाम'। डा० माताप्रसाद गुप्त और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक चौथे ग्रन्थ 'कहारनामा' का उल्लेख किया है। अब तक की खोजों से जायसी के २४ ग्रन्थों का पता चला है, उनके नाम इस

प्रकार हैं—(१) पद्मावत (२) अखरावट (३) सखरोवत (४) चम्पावत (५) इतरावत (६) मटकावत (७) चित्रावत (८) खुर्वानामा (९) मोराईनामा (१०) मुकहरानामा (११) मुखरानामा (१२) पोस्तीनामा (२३) होलीनामा (१४) आखिरी-कलाम (१५) घनावत (१६) सोरठ (१७) जपजी (१८) मैनावत (१९) मेखरावटनामा (२०) कहारनामा (२१) स्फुट कविताएँ (२२) लहतावत (२३) सकरानामा (२४) मसला या मसलानामा।

परन्तु इन सभी ग्रंथों में पद्मावत, अखरावट और आखिरी-कलाम ही विशेष उल्लेखनीय हैं। 'पद्मावत' का विस्तृत उल्लेख आगे किया जायेगा। यहाँ अखरावट और 'आखिरी-कलाम' की विषयवस्तु का संक्षिप्त उल्लेख उपयुक्त होगा।

अखरावट—यह 'पद्मावत से पहले (९११ हिजरी) को रचना है। इसमें कवि ने सूफी साधना के सिद्धान्तपक्ष का उद्घाटन किया है। इसी ग्रन्थ में मुहम्मद साहब की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं—

गगन हुता नहि महि हुती, हुते चन्द नहि सूर।
ऐसेइ अंधकूप महँ रचेउ मुहम्मद नूर॥

भारतीय (वैष्णव) मान्यता के अनुरूप ही जायसी भी अखिल सृष्टि को ईश्वर की लीला रूप में स्वीकार करते हैं—

रहा जो एज जल गुपुतसुमुन्दा।
बरसा सहस अठारह बुन्दा॥

जायसी ने सूफी साधना की चार अवस्थाओं—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत का उल्लेख करने के साथ ही वेदान्त का भी विस्तृत उल्लेख किया है। वे स्थल द्रष्टव्य हैं—

सूफीमत—

साई केरा बार, जो थिर देखै और सुनै।
नई-नई करै जुहार, मुहम्मद निति उठ पाँच बेर॥
ना-नमाज है दीन कथूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी॥
कही सरीअत चिसती पीरु। उधरित असरफ औ जहँगीरु॥

तेहिके नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउन डेराई ॥
जेहिके ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सोचला ॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफित मार बुड़की ॥
ढूढ़ि उठै लै मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महं जोती ॥
जेहि कहं उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लइ आवा ॥
साँची राह सरीअत जेहि विसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोइ ॥

वेदान्त—

माया जारि जस आपुहि खोई। रहै न पाप, मैलि गइ धोई ॥
गौं दूसरि भा सुन्नहि सुन्नू। कहं कर पाप कहाँ कर पुन्नू ॥
आपुहि गुरू आप भा चेला। आपहु सब औ आप अकेला।
अहे सो जोगी अहै सो भोगी। अहै सो निर्मल अहै सो रोगी ॥
अहै यो कड़वा अहै सो मीठा। अहै सो आमिल अहै सो सीठा ॥
वै आपुहि है सब महं मेला। रहै सो सब महं खेलै खेला ॥
उहै दोउ मिल एकै भयऊ। बात करत दूसर होई गयऊ ॥
जो किछु हैं सो है सब ओहि बिनु नाहिन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ ॥

भारतीय वेदान्त का कितना सरल एवं सुबोध शब्दावली में विवेचन किया गया है। जायसी द्वारा किया गया सृष्टि के तत्वों का विवेचन भी भारतीय विचारधारा के अनुकूल ही है। अखिल सृष्टि दर्पण है जिसमें रचयिता अपना ही स्वरूप देखता है। संसार का निर्माण मुहम्मद के प्रेम के कारण हुआ। जिस प्रकार अंकुर में दो दल निकलते हैं उसी प्रकार परमात्मा ने सृष्टि के द्वन्द्वों (जोड़ों) आकाश-पृथ्वी, पाप-पुण्य, सुख-दुःख ादि की रचना की। भारतीय चिन्तन-धारा सृष्टि को पाँच तत्वों—आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि से निर्मित मानती है, परन्तु सूफी विचारधारा के अनुसार सृष्टि के निर्मायक चार ही तत्व हैं—जल, पृथ्वी, वायु तथा अग्नि। यहाँ आकाश तत्व की गणना नहीं की

गयी। शरीर में दस द्वार हैं जिनमें नौ तो खुले हुए हैं, परन्तु दसवाँ बन्द है। इबलीस इस दशम द्वार का रक्षक है।

सातव सोम कपार महं कहा जो दसम दुआर।
जो वह पवँरि उघारे सो बड़ सिद्ध अपार॥

सूफी मतानुयायी सभी जातियों के मनुष्यों (हिन्दू तुर्क आदि) की उत्पत्ति आदम और हौआ से मानते हैं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के अनुरूप ही सूफी मत में भी पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता स्वीकार की गयी है।

सातौं दीष नवौखंड आठो दिसा जो आहि।
जौ बरम्हंड सो पिण्ड है, हेरत अन्त न जाहि॥

सूफियों ने शरीर को संसार का लघु संस्करण माना। संसार में जितने भी तीर्थादि हैं सब शरीर के अन्तर्गत ही हैं। जायसी ने मस्तिष्क को मक्का तथा हृदय को मदीना माना। इन्द्रियाँ ही जिबाइल इजराइल आदि तीर्थ स्थान हैं। ब्रह्म या परमज्योति का निबास भी शरीर के अन्दर ही है। जीवात्मा साधना द्वारा निरन्तर ब्रह्म की ओर उन्मुख होने का प्रयास करती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था और उनके इस मिलन में पड़ने वाली बाधाओं का विवरण सूफी सन्तों ने नाथ पंथी योग सिद्धान्तों के अनुकरण पर दिया है।

आगि बाड़ जल धूरि चारि मेरइ भाँडा गढ़ा।
आपु रहा भर पूरि मुहम्मद आपुहि आप महँ॥

जो भी परमात्मा को खोजने निकलता है, उसे स्वयं को खो देना पड़ता है। जायसी कहते हैं--

बुन्दहि समुद समान, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हेरान मुहम्मद आपुहि आप महँ॥

इस प्रकार अखरावट जायसी की मान्यताओं के सिद्धान्त पक्ष का उद्घाटन करने वाला ग्रंथ है। इसमें सूफी सिद्धान्तों की व्याख्या के साथ ही भारतीय अद्वैत, नाथपंथी हठयोग तथा शून्यवाद की भी विशद व्याख्या हुई है। इन सभी

मान्यताओं का एकत्र समाहार जायसी ने अपनी 'पद्मावत' नामक काव्य-कृति में सफलता पूर्वक किया है।

आखिरी कलाम—

जायसी ने अपने इस ग्रन्थ में कयामत (सृष्टि विध्वंसक प्रलय) का विस्तृत वर्णन किया है। इस ग्रंथ की रचना ९३६ हिजरी में बाबर के शासन काल में हुई थी। इस ग्रंथ में बादशाहे-वक्त, बाबर की स्तुति की गयी है। भूकम्प, सूर्य-ग्रहण तथा प्रलय इस ग्रंथ के प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। यहाँ मकाइल नाम का फरिश्ता भारतीय इन्द्र का प्रतिरूप है, जो भयानक जल बरसाने वाला है। मकाइल के भयानक जलवृष्टि करने के बाद इसराफील नामक फरिश्ते ने अपने भयंकर नाद से सारी सृष्टि को उड़ा दिया। अजराईल नामक देवदूत सभी जीवों को ले गये। इन्होंने ही जिब्राइल, मकाईल और इसराफील को भी मार डाला। बाद में खुदा ने स्वयं अजराईल को भी समाप्त कर दिया। अब केवल खुदा ही बचा। उसने मरे हुओं को फिर जीवित किया। सूर्य फिर से चमक उठा और सभी जीवों के कर्मों का लेखा-जोखा प्रारम्भ हो गया। जो धर्मात्मा थे वे परमात्मा की छाया में भयानक ताप से बचे रहे। खुदा मुहम्मद साहब से प्रसन्न हुए, उन्होंने उनके साथियों को भी क्षमा कर दिया। यहीं पर कवि ने कौसर के पवित्र जल, स्वर्गीय शराब तथा स्वर्गीय अप्सराओं का भी वर्णन किया है। स्वर्ग ही खुदा का निवास स्थान है, वहाँ न मृत्यु है न निद्रा है, न दुःख है और न ही रोग है, वहाँ सभी आनन्दपूर्वक रहते हैं। जायसी स्वर्ग का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

> तहाँ न मीचु न नींद दुःख, रहा देह मह रोग।
> सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख मानै भोग॥

इस प्रकार जायसी का आखरीकलाम काव्य-ग्रन्थ इस्लामी मान्यताओं के अनुरूप सृष्टि के विनाश और खुदा द्वारा सृष्टि के पुनर्निर्माण का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है। कुछ छोटी-मोटी मान्यताओं में अन्तर के अतिरिक्त प्रलय का यह वर्णन भारतीय पुराणों में वर्णित प्रलय के वर्णनों से पर्याप्त समानता रखता है।

(३) **कहारनामा**—यह ग्रंथ भी जायसी रचित बताया जाता है। इसमें केवल ३० छन्द है। इसका राग गाँवों में प्रचलित कहार जाति में गाये जाने वाले गीतों सा है। आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन ही इस ग्रंथ की भी प्रमुख विषय-वस्तु है। इस ग्रन्थ में जायसी बताते हैं कि संसार समुद्र है; इसे पार करने के लिए धर्म ही दृढ़ नौका है और परमेश्वर खेवक है। ऐसी नाव पर चढ़ने वाला ही संसार रूपी समुद्र के पार जा पाता है। नाव पर चढ़ने के साधन हैं—गुरु, सत्संग, योग, संयम, भोगों से विरक्ति तथा ईश-प्रेम। इसी ग्रंथ में आत्मा को महरी और परमात्मा को महरा मान दोनों के विवाह का भी वर्णन किया गया है। यहाँ जायसी द्वारा प्रतिपादित एक तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है—उनकी दृढ़ मान्यता है कि परमात्मा जिसे चाहता है या अपना समझता है, उसे भाँति-भाँति के कष्ठ देता है—

> जो सेवक आपुनकै जाने तेहि धरि भीख मँगावै रे।
> कवि या पंडित दुःखदरद महँ, मुरुख के राज करावै रे॥

जायसी के इस ग्रंथ पर कबीर की मान्यताओं की स्पष्ट छाप है। इसमें लौकिक दृष्टान्तों के माध्यम से प्रतिपादित रहस्यवाद के समीप तक पहुँचने वाली मान्यताएँ कबीर के प्रभाव रूप में देखी जा सकती है।

जायसी की सैद्धान्तिक मान्यताओं से सम्बन्धित कृतियों का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया। इन सभी मान्यताओं के दर्शन किसी न किसी रूप में इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति पद्मावत में किये जा सकते हैं। यही कृति उनकी अक्षयकीर्ति का भण्डार भी है। इनका विस्तृत विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायेगा। अब यहाँ जायसी के रचनाकाल की परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण दे देना भी अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि कोई भी कवि अपने युग की परिस्थितियों से अछूता नहीं रहता बल्कि देखा तो यह गया है कि कवि अपने युग की समस्त मान्यताओं को किसी न किसी रूप में अपनी कृतियों में अवश्य स्थान देता है। कवि समाज का एक उद्बुद्ध प्राणी होता है, वह समाज में घटित होने वाली घटनाओं का यथा-तथ्य (ऊपरी) विवरण न प्रस्तुत कर उस घटना विशेष के अन्तराल में छिपे हुए कारणों को भी देखने का प्रयास करता है। यही कारण है कि किसी युग की वास्तविक संस्कृति उस युग की कृतियों में ही रूपायित होती है।

जायसी का समय—

मलिक मुहम्मद जायसी ने जिस युग में अपनी रचनाएँ की वह युग बाबर

और शेरशाह जैसे साहिष्णु एवं हिन्दू प्रिय राजाओं का युग था लगातार १२वीं शदी से मुसलमानों के अत्याचार भारत पर होते रहे, जितने भी बादशाह हुए सभी ने हिन्दुओं को अपना शत्रु समझकर उनके धर्म का विनाश करना अपना परम कर्तव्य समझा परन्तु यह मनोवृत्ति भारत में नये-नये आने वाले मुसलमानों को विशेष रही इसके ठीक विपरीत जो मुसलमान गृहस्थ यहाँ रह गये थे, वे हिन्दुओं के साथ शान्ति पूर्वक रहना चाहते थे परन्तु क्रूर बादशाहों के आगे उनकी एक न चली। यह स्थिति भारत में मुगलों के आक्रमण तक बराबर बनी रही। भारत में मुगलसत्ता की स्थापना बाबर जैसे सहिष्णु और उदार वीर पुरुष के हाथों हुई। बाबर ने इस्लामी क्रूरता का परित्याग कर हिन्दू जनता को शान्ति से जीवन विताने की स्वतन्त्रता दी। बादशाह की इस मनोवृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा और पहले से ही आपस में समझौते के लिए कटिबद्ध हिन्दू और मुसलमान गृहस्थ एक होने का प्रयास करने लगे। कबीर जैसे सन्त इस एकता का बराबर प्रयास कर ही रहे थे। इसी बीच उदारप्रवृत्ति के मुसलमान सूफी सन्तों ने भी इस ओर प्रयास करना प्रारम्भ किया। इन दोनों ही कोटि के सन्तों नें इस्लाम तथा हिन्दुत्व की समान बातों को ग्रहण कर दोनों में समन्वय का प्रयास किया। इसका परिणाम अत्यन्त सुखद हुआ दोनों धर्मों के अनुयायी बहुत कुछ अपने विरोधों को भूलने लगे।

बाबर के बाद हुमायू भी उदारता का पोषक रहा पर शेरशाह से उसे हार खाकर भाग जाना पड़ा। परन्तु शेरशाह भी बाबर की नीति का पालन करता रहा। धार्मिक कट्टरता को वह शासन के मामले में आने ही नहीं देता था। उसका शासन काल हिन्दू हित की दृष्टि से अकबर जैसे उदारवादी राजा के शासन काल का प्रथम संस्करण कहा जा सकता है।

इन्हीं दो उदार मुसलमान शासकों के राज्य काल में जायसी ने अपनी काव्य रचनाएँ की। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जायसी को अपनी रचनाओं की प्रेरणा इन राजाओं के उदार दृष्टिकोण और जनता की मनोवृत्ति के कारण मिली। जायसी के ही समान अन्य सूफी सन्तों ने हिन्दू और इस्लाम संस्कृति के सामासिक समन्वय का अदभुत प्रयास किया और उनका यह प्रयास बहुत कुछ सफल भी रहा। हिन्दू जनता अपने ही घरों की प्रेमकथाएँ मुसलमानों के मुख से सुनकर धीरे-धीरे उन पर विश्वास लाती गयी और ये सन्त दोनों ही धर्मानुयायियों के पूज्य बनते गये।

१२

पद्मावत

पद्मावत-हिन्दी भाषा की प्रथम-प्रामाणिक प्रबन्धात्मक कृति

मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की सर्वश्रेष्ठ कृति होने के साथ ही हिन्दी भाषा की प्रथम प्रामाणिक प्रबन्धात्मक कृति भी है। इसके पहले हिन्दी में चारणों की कुछ प्रबन्धात्मक कृतियाँ लिखी अवश्य गयीं पर उनका प्रामाण्य आज भी संदिग्ध बना हुआ है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग में सर्वप्रथम लिखी गयी प्रबन्धात्मक कृति 'पृथ्वीराज रासो' है, परन्तु एक तो यह प्रामाणिक रचना नहीं है, इसमें अनेक प्रक्षेप हैं, दूसरे इसकी भाषा भी प्रायः हिन्दी के पूर्व की है। यही हाल 'बीसलदेव रासो' और 'परमाल रासो' का भी है। हिन्दी भाषा अपने वास्तविक रूप में खुसरो की कविताओं में विकसित होती देखी जाती है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि 'पद्मावत' हिन्दी भाषा की प्रथम प्रामाणिक प्रबन्ध कृति है और मलिक मुहम्मद जायसी प्रथम महाकवि हैं। एक प्रबन्धात्मक रचना के सभी गुणों से युक्त 'पद्मावत' हिन्दी की ही एक ग्रामीण बोली 'अवधी' में लिखी गयी है। इस महाकाव्य की भाषा उस युग की प्रामाणिक भाषा है। अवधी का जो रूप उस समय जनता में प्रचलित था कवि ने उसे ही अपने काव्य में स्थान दिया है। फारसी लिपि में लिखी होने के कारण यह रचना प्रक्षेपों और पंडितों द्वारा किये गये शुद्धीकरण से भी बची रही। इस प्रकार सभी दृष्टियों से 'पद्मावत' हिन्दी भाषा की प्रथम प्रामाणिक प्रबन्ध कृति ठहरती है। पद्मावत की कथा, उसके वर्णन, उसमें निहित विचारधारा

सभी महाकाव्योचित हैं। पद्मावत की सबसे बड़ी विशेषता है, उसमें निहित मानव जीवन की गूढ़ गम्भीर, सर्वव्यापिनी एवं मर्मस्पर्शी उदात्तभावना, जो इहलोक में ही मनुष्य को परलोक के सुखों का आस्वादन कराती है। गहन एवं तरल मानवीय अनुभूतियों का एकत्र संयोजन कर चलने वाली यह कृति पग-पग पर मानवीय हितचिन्तन की भावनाओं से ओत-प्रोत है। जायसी ने इस कृति में मानवीय जीवन को विस्तृत क्षेत्र में चित्रित करने का प्रयास किया है। लौकिकता में अलौकिकता की व्यंजना का तो कहना ही क्या। धार्मिक विभेदों एवं मतमतान्तरों से पीड़ित तत्कालीन जन-मानस को जितना स्वर्गीय आनन्द जायसी ने अपनी लौकिक प्रेम कहानी के माध्यम से दिया अन्य कोई कवि या उसकी कृति इतना नहीं ही दे सकी। इस प्रकार सभी दृष्टियों से जायसी की कृति एक श्रेष्ठ प्रबन्धात्मक कृति है और जायसी मानवता के अदभुत उपासक, एक युग चेता कवि है।

इस कृति का महत्व, इसके विदेशी भाषाओं में हुए अनुवादों से भी स्पष्ट होता है। सर्वप्रथम १०६९ हिजरी में रजिया नामक फारसी के कवि ने 'पद्मावत' का अनुवाद फारसी भाषा में किया। इसके बाद नज्मी महोदय ने भी फारसी में ही इसका अनुबाद किया। १६५२ ई० में रायगोविन्द मुंशी ने फारसी गद्य में 'तुक फतुल कुलू' नाम से पद्मावत की कथालिखी। हुसैन गजनवी ने पद्य में 'किस्सए पद्मावत' नाम से इसकी कहानी लिखी। सन् १७९६ ई० में जियाउद्दीन 'इब्रत' और 'गुलाम अली' ने मिल कर उर्दू के शेरों में पद्मावत की पूरी कथा प्रस्तुत की। अलाउल ने मध्ययुग में ही इसका 'बँगला' भाषा में अनुवाद किया। आधुनिक युग में ए० जी० सिरेफ ने इसका अनुवाद 'अँग्रेजी' में प्रस्तुत किया। इस प्रकार मध्य-युग की इस कृति को विदेशी साहित्य चिन्तकों ने भी उच्चता की दृष्टि से देखा। हिन्दी प्रेम कथा काव्यों में 'पद्मावत' सर्वश्रेठ कृति रही है। पूरे भक्ति-युग में 'रामचरितमानस' के बाद पद्मावत' द्वितीय प्रसिद्ध कृति मानी गयी है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मलिक मुहम्द जायसी की 'पद्मावत' सभी दृष्टियों से एक उच्चकोटि की काव्य रचना है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, स्वयं कवि की उक्ति 'सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी' अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है।

पद्मावत का विषय विस्तार एवं स्वरूप—

'पद्मावत' चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलदीप की सुन्दरी राजकुमारी पद्मावती की लौकिक प्रेम कहानी है। इसी प्रेम कहानी के माध्यम से कवि ने अपने सूफी सिद्धान्तों की विवेचना का भी प्रयास किया है। पूरी कथा अनेकों काल्पनिक प्रसंगों एवं लम्बे-लम्बे वर्णनों से युक्त है। समस्त कथा का विस्तार ५७ खण्डों में है। ५८वें खण्ड में कवि ने कथा का उपसंहार दिया है। ५७ खण्डों की कथा को भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में बाँटा जा सकता है। पूरी कृति में कथा के आधार पर ही खण्डों के नाम भी दिये गये हैं। कृति के प्रारम्भ में कवि ने ईश-वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, समसामियिक बादशाह शेरशाह की प्रशंसा, आत्म-परिचय तथा कथा का संक्षिप्त उल्लेख किया है। इसे कवि ने 'स्तुति खण्ड' नाम दिया है। इसके बाद कथा का प्रारम्भ 'सिंहलदीप वर्णन खण्ड' से होता है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में, पद्मावत की पूरी कथा को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है।

पूर्वार्द्ध—

(१) स्तुति खण्ड (२) सिंहलदीप वर्णन खण्ड (३) जन्म खण्ड (पद्मावती के जन्म तथा उनके युवा होने तक की कथा) (४) मानसरोदक-खण्ड। (पद्मावती की जल क्रीड़ा का वर्णन)। (५) सुआ खण्ड (हीरामन तोते की कथा)। (६) रत्नसेन जन्म खण्ड (७) बनिजारा खण्ड (हीरामन तोते रत्नसेन तक पहुँचना)। (८) नागमती सुआ खण्ड (हीरामन तोता और रत्नसेन की रानी नागमती का विवाद)। (९) राजासुआ खण्ड (हीरामन द्वारा, राजा के समक्ष पद्मावती की रूप-राशि का वर्णन तथा रत्नसेन का पद्मावती की ओर आकृष्ट होना)। (१०) नख-शिख खण्ड (रत्नसेन के कहने पर, हीरामन द्वारा पद्मावती के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन) (११) प्रेमखण्ड (हीरामन द्वारा पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर रत्नसेन का प्रेमातिरेक से मूर्छित हो जाना तथा हीरामन द्वारा उद्बुद्ध किये जाने पर पद्मावती की प्राप्ति की प्रतिज्ञा करना) (१२) जोगी खण्ड (रत्नसेन का योगी वेश धारण कर पद्मावती की खोज में निकल पड़ना) (१३) राज-

गजपति संवाद खण्ड (उड़ीसा के राजा गजपति से रत्नसेन की भेंट) (१४) बोहित खण्ड (उड़ीसा के राज से नाव के बेड़े लेकर रत्नसेन का पद्मावती की खोज में निकल पड़ना, भीषण समुद्र यात्रा का वर्णन) (१५) सात समुद्र खण्ड (खारी, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला तथा मानसर—सात समुद्रों का वर्णन) (१६) सिंहल द्वीप खण्ड (राजा का सिंहल द्वीप पहुँचकर शिव मंडप की ओर प्रस्थान, हीरामन का पद्मावती के पास जाना) (७) मंडप गवन खण्ड (शिव मंडप में बैठ कर राजा द्वारा पद्मावती के नाम का अखण्ड जाप) (१८) पद्मावती-वियोग खण्ड (राजा के तपः प्रभाव से प्रभावित पद्मावती की वियोगानुभूति का वर्णन) (१९) (पद्मावती सुआ भेट खण्ड हीरामन तोते का पद्मावती के पास जाकर रत्नसेन की सच्ची प्रेमसाधनाकी सराहना करना, तत्पश्चात् लौटकर रत्नसेन को पद्मावती का संन्देश सुनाना) (२०) वसंत खण्ड (पद्मावती का वसंत ऋतु में शिव-पूजन के लिए जाना, (रत्नसेन का पद्मावती को देखते ही मूर्छित हो जाना) । (२१) राजा रत्नसेनसती खण्ड—(मूर्छा से जागने पर पद्मावती को न पाकर रत्नसेन का जीवित अग्निदाह कर लेने की प्रतिज्ञा करना) (२२) पार्वती महेश खण्ड (रत्नसेन की प्रतिज्ञा से विचलित होकर शंकर, पार्वती तथा हनुमान का वेश बदलकर रत्नसेन के पास आना, अप्सरा वेश में पार्वती द्वारा रत्नसेन की परीक्षा, शिवजी द्वारा रत्नसेन को सिंहलद्वीप का मार्ग निर्देश) (२३) राजागढ़ छेका खण्ड (रत्न सेन का योगियों के साथ सिंहलगढ़ में प्रवेश, रत्नसेन और पद्मावती का प्रेम-पत्रआदान-प्रदान, गंधर्वसेन द्वारा रत्नसेन का पकड़ लिया जाना) (२४) गंधर्वसेन मन्त्री खण्ड (गंधर्वसेन द्वारा रत्नसेन को सूली चढ़ाये जाने का निश्चय, इसे सुनकर पद्मावती का व्याकुल होना) (२५) रत्नसेन सूली खण्ड—(रत्नसेन का सूली देने के लिये लाया जाना, चारण के वेश में शिव का गन्धर्वसेन को राजा रत्नसेन का वास्तविक परिचय देना, हीरामन द्वारा समर्थन, गधर्वसेन द्वारा रत्न-सेन और पद्वावती के विवाह का मान लिया जाना) (२६) रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड । (२७) पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड (रत्नसेन और पद्मावती के प्रथम समागम का सजीव एवं श्रृङ्गार की सीमा को तोड़ता हुआ

वर्णन (२८) रत्नसेन साथी खण्ड (रत्नसेन के साथियों का राजा द्वारा सम्मानित किया जाना (२९) षट् ऋतु वर्णन खण्ड (पद्मावती और रत्नसेन का छहों ऋतुओं में उन्मुक्त भोग-विलास वर्णन । (३०) नागमती वियोग वर्णन (चित्तौड़ में रत्नसेन की प्रथम परिणीता रानी नागमती के वियोग का मार्मिक एवं सजीव चित्रण करते हुए, बारहमासे का वर्णन) (३१) नागमती संदेश-खण्ड (नागमती का पक्षी द्वारा रत्नसेन को संदेश भेजना) । (३२) रत्नसेन विदाई खण्ड (पद्मावती की विदाई का मार्मिक चित्रण ।) (३३) देश यात्रा खण्ड (समुद्री यात्रा के बीच तूफान में घिर कर नाव का टूट जाना तथा राजा और रानी का अलग हो जाना) (३४) लक्ष्मीसमुद्रखण्ड (समुद्र की पुत्री लखिमिनि द्वारा पद्मावती की रक्षा, स्वयं समुद्र द्वारा रत्नसेन के प्राण की रक्षा, पद्मावती और रत्नसेन का पुर्नमिलन) । (३५) चित्तौर आगमन खण्ड (चित्तौड आकर रत्नसेन का नागमती को मनाना और सभी का आनन्दित होना) । (३६) नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड (दोनों सपत्नियों का वापसी विवाद, रत्नसेन का आकर दोनों को शान्त करना) ।(३७) रत्नसेन संतति खण्ड ।

उत्तरार्द्ध—

(३८) राघवचेतन देश निकाला खण्ड (एक ज्योतिष संबंधी विवाद पर रत्नसेन द्वारा अपने वाममार्गी मन्त्री राघवचेतन को देश निकाला दे देना, पद्मावती का राघवचेतन को सम्मान देना, बदला लेने की भावना से राघवचेतन का दिल्ली के सुलतान के पास जाने का निश्चय) । (३९) राघवचेतन दिल्ली गमनखण्ड (राघवचेतन का अलाउद्दीन के समक्ष पद्मावती की चर्चा करना) । (४०) स्त्री भेद-वर्णन खण्ड (राघवचेतन द्वारा नायिका-भेद वर्णन ।(४१)पद्मावती-रूप-चर्चा खण्ड (राघवचेतन द्वारा पद्मावती के नख-शिख सौन्दर्य का चित्रण तथा समुद्र द्वारा पाये गये पाँच रत्नों की चर्चा, शाह द्वारा राघव का सम्मान और सरजा के हाथ पद्मिनी की माँग का पत्र चित्तौर भेजना) । (४२) बादशाह चढ़ाई खण्ड (अपने पत्र का अनुकूल उत्तर न पाकर शाह का चित्तौर गढ़ पर चढ़ाई कर देना) (४३) राजा बादशाह युद्ध खण्ड (भयानक युद्ध का वर्णन)। (४४)राजा बादशाह मेल खण्ड । (४५) बादशाह भोज खण्ड (चित्तौरगढ़ में बादशाह के सम्मान में दिये

गये भोज में बने हुए पकवानों का विस्तृत विवरण)। (४५) चित्तौरगढ़ वर्णन खण्ड (बादशाह का चित्तौर भ्रमण और उसका भव्य स्वागत, दर्पण में पद्मावती के प्रतिबिम्ब को देखकर मूर्छित हो जाना)। (४७) रत्नसेन बन्धन खण्ड (गढ़ के बाहर बादशाह को छोड़ने गये हुए राजा का धोखे से गिरफ्तार करवा लिया जाना तथा उसे विविध यंत्रणाएँ देना।) (४८) पद्मावती नागमती विलाप खण्ड (४९) देवपाल दूती खण्ड (कुंभलनेर के राजा देवपाल का अपनी दूती भेज कर, पद्मावती से प्रणय निवेदन करना, पद्मावती का दूती को फटकारना)। (५०) बादशाह दूतीखण्ड—(बादशाह द्वारा एक वेश्या को योगिन वेश में भेजकर पद्मावती को पथभ्रष्ट करने का प्रयास)। (५१) पद्मावती गोरा बादल खण्ड (गोराबादल का राजा को छुड़ा लाने की प्रतिज्ञा करना,) (५२) गोराबादल युद्ध यात्रा-खण्ड (गोरा और बादल के परिवार के लोगों का वर्णन)। (५३) गोराबादल युद्ध खण्ड (छद्मवेश में गोरा और बादल का दिल्ली प्रवेश, राजा को छुड़ाना तथा सरजा और गोरा की एक दूसरे के हाथ मृत्यु) (५४) बंधनमोक्ष पद्मावती मिलनखण्ड (रत्नसेन के आने पर पद्मावती द्वारा देवपाल की दूती की चर्चा करना) (५५) रत्नसेन देवपाल युद्ध खण्ड (रत्नसेन द्वारा देवपाल का मारा जाना राजा का घायल होकर मरणासन्न होना) (५६) राजा रत्नसेन बैकुंठवास (बादल को गढ़ सौंप कर रत्नसेन की मृत्यु) (५७) पद्मावती नागमती सती खण्ड (पद्मावती और नागमती का रत्नसेन के शव के साथ चिता में जल जाना और बादशाह का केवल उनकी राख भर पाना, बादल की वीरता का चित्रण)। (५८) उपसंहार खण्ड 'इस खण्ड में कवि ने कथा के उद्देश्य तथा उसके विविध अर्थों का वर्णन करने के साथ ही काव्य की रचना पर आत्मसंतोष तथा वृद्धावस्थाजन्य अपनी करुण दशा का चित्रण किया है।)

पद्मावत के ५७ खण्डों में निहित रत्नसेन और पद्मावती की यह कथा ऐतिहासिकता एवं कविकल्पना के मिश्रण से युक्त है। कथा की ऐतिहासिकता एवं काल्पनिकता का वर्णन करने के पहले इसके संक्षिप्त कथानक का एकत्र उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा।

पद्मावत की कथा—

खण्ड विभाजन की दृष्टि से पद्मावत की विषयवस्तु का संक्षिप्त उल्लेख

ऊपर किया जा चुका है। इसके स्वरूप के स्पष्टीकरण के बाद विस्तृत कथा का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी अनुपयुक्त न होगा।

पद्मावत की प्रमुख कथा का उल्लेख कवि ग्रन्थ के स्तुति खण्ड में ही अत्यंत संक्षेप में केवल चार चौपाइयों में कर देता है।

सिंहलदीप पदमिनी रानी। रतन सेन चितउर गढ़ आनी ॥
अलउदीन देहली सुलतानू। राघौचेतन कीन्ह बखानू ॥
सुना साहिगढ़ छेका आई। हिन्दू तुरुकन्ह भई लराई ॥
आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।

पद्मावत की पूरी कथा इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की रानी चम्पावती ने एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। उसका नाम पद्मावती रखा गया। पद्मावती के सयानी होने पर उसके माता पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई। इसी बीच पद्मावती का अत्यन्त प्रिय हीरामन तोता अपने पिंजड़े ले उड़कर जंगल की ओर चला गया।

जंगल में उसे एक बहेलिये ने पकड़ कर एक ब्राह्मण व्यापारी के हाथ बेच दिया। ब्राह्मण व्यापारी तोते की प्रतिभा और मानुषीवाणी से चकित होकर उसे राजा रत्नसेन के पास ले गया। रत्नसेन ने ब्राह्मण व्यापारी को एक लाख मुद्राएँ देकर तोते को खरीद लिया। एक दिन राजा रत्नसेन शिकार खेलने गया था उसकी रानी नागमती ने सोलहों श्रृंगार किया और तोते के पास जाकर पूछा कि तुम तो देश-बिदेश भ्रमण कर चुके हो बताओ मुझसे भी कोई सुन्दरी स्त्री संसार भर में है। तोते ने कहा कि सिहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के समक्ष तुम्हारा सौन्दर्य कुछ भी नहीं है। नागमती अत्यन्त क्रोधित हुई, उसे डर हुआ कि कहीं सुआ पद्मावती की चर्चा राजा रत्नसेन से न कर दे और राजा उसे प्राप्त करने के लिये लालायित हो जाये अतः उसने अपनी दासी को आज्ञा दी कि तोते को ले जाकर मार डाले। परन्तु दासी ने उसे राजा की प्रिय वस्तु समझकर छिपा दिया। राजा के आने पर तोते ने उसके समक्ष पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन किया पद्मावती की अद्भुतरूप-राशि का वर्णन

सुनते ही राजा ने उसे प्राप्त करने का निश्चय किया और राज-पाट छोड़कर योगी बन गया तथा पद्मावती की प्राप्ति हेतु सिहलगढ़ की ओर चल पड़ा। हीरामन तोता गुरु के रूप में उसका मार्ग निर्देशक बना। सोलह सहस्र योगी-वेषधारी राजकुमारों के साथ रत्नसेन समुद्र यात्रा की अनेक बाधाओं को सहन करता हुआ सिहलद्वीप पहुँचा। वहाँ योगियों के ईश महादेव की सहायता से उसने सिहलगढ़ में प्रवेश किया। गन्धर्वसेन ने उसे पकड़वाकर सूली पर चढ़ा देना चाहा, परन्तु देवाधिदेव शिव की ही सहायता से उसकी प्राणरक्षा हुई। जब गन्धर्वसेन को रत्नसेन का वास्तविक परिचय मिला, तब उसने पद्मावती का विवाह उसके साथ कर देने का निश्चय किया। रत्नसेन और पद्मावती का विवाह हुआ, दोनों सुख पूर्वक सिहलद्वीप में काफी दिनों तक रहे। अन्त में पद्-मावती को बिदा करवाकर वह समुद्र के मार्ग से चित्तौरगढ़ की ओर चला, मार्ग में तूफान से नाव टूट-फूट गयी। पद्मावती और रत्नसेन अलग हो गये। परन्तु समुद्र की पुत्री लक्ष्मी के प्रयास से दोनों का पुर्नमिलन हुआ और वे सकुशल चित्तौड़ लौटे।

चित्तौरगढ़ में राघवचेतन नाम का एक ब्राह्मण पंडित था। राजा के हाथों अपमानित होकर वह अलाउद्दीन से जा मिला। उसके उकसाने पर अला-उद्दीन ने राजा से पद्मावती तथा समुद्र द्वारा प्राप्त पाँच रत्नों की माँग की और इसके न मिलने पर चित्तौर पर चढ़ाई कर दी। भयानक युद्ध के बाद उसने सन्धि करनी चाही। चित्तौरगढ़ में वह पद्मावती को देखने गया, वहाँ से लौटते समय धोखे से रत्नसेन को पकड़वा लिया परन्तु गोरा-बादल की बुद्धि-मानी तथा वीरता से रत्नसेन मुक्त हुआ। चित्तौर आने पर उसने देवपाल की दूती द्वारा पद्मावती को बहका ले जाने की बात सुनी। राजा ने देवपाल पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में देवपाल और रत्नसेन दोनों की मृत्यु हो गयी। पद्मा-वती और नागमती रत्नसेन के शव के साथ सती हो गयीं। यही 'पद्मावत' की मूल कथा है। इसकी कथानक सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख आगे किया जायेगा।

कथानक की ऐतिहासिकता एवं काल्पनिकता—पद्मावत का कथानक

ऐतिहासिकता एवं कविकल्पना के अद्भुत मिश्रण से युक्त है। कथानक का पूर्वार्द्ध भाग प्रायः कविकल्पित है, इसमें केवल रत्नसेन का नाम ही ऐतिहासिक है शेष सभी घटनाएँ कविकल्पित हैं। कथानक का उत्तरार्द्ध भाग कुछ ऐतिहासिक तथ्यों तथा नामों का उललेख अवश्य करता है, परन्तु वहाँ भी कवि-कल्पना का ही प्राबल्य है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से पूरी कथा में कुछ नाम और घटनाएँ भर ही है।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अलाउद्दीन ने चित्तौर पर चढ़ाई की थी और रत्नसेन के साथ उसका घमासान युद्ध हुआ था। इस युद्ध में अलाउद्दीन की विजय भी हुई। परन्तु इस युद्ध का कारण पद्मिनी नहीं थी। अमीर खुसरो इस युद्ध में अलाउद्दीन के साथ थे, उन्होंने पूरे विवरण के बीच पद्मावती की चर्चा कहीं नहीं की, इतिहास के आधार पर रत्नसिंह ने चित्तौर पर केवल एक वर्ष राज्य किया था, इतने थोड़े समय में उसका सिहलगढ़ जाना भी संभव सा नहीं लगता, अतः रत्नसेन के सिहलद्वीप जाकर पद्मिनी से विवाह करने की सारी कथा कवि-कल्पित ही लगती है। कथा के उत्तरार्द्ध भाग में रत्नसेन और अलाउद्दीन के मध्य हुए युद्ध का कारण भी मिलता है, जिनपुत्र सूरि के 'तीर्थकल्प' ग्रंथ के अनुसार, गुजरात के राजा कर्णदेव के मंत्री माधव ने अपनी पत्नी के अपमान से उद्विग्न होकर गुजरात छोड़ दिया और अपने अपमान का बदला लेने के लिए अलाउद्दीन की शरण ली। अलाउद्दीन का छोटा भाई उलूग खाँ गुजरात पर आक्रमण करने के लिये गया, परन्तु कर्णदेव ने उसे हरा दिया। जायसी ने इसी घटना से प्रेरणा लेकर राघवचेतन की कल्पना की होगी। इसी प्रकार रत्नसेन और देवपाल द्वन्द्व में भी राणा रत्नसेन और बूँदी के सूरजमल के ऐतिहासिक द्वन्द्व की झलक मिलती है। इस द्वन्द्व में दोनों ही की मृत्यु हुई थी, इसका कारण पारिवारिक कलह बताया जाता है। यह द्वन्द बाबर के शासनकाल में हुआ था। जायसी ने इसी द्वन्द्व का चित्रण रत्नसेन और देवपाल द्वन्द्व के रूप में किया होगा।

पद्मावत में रत्नसेन और अलाउद्दीन के बीच हुई जिस सन्धि का विवरण दिया गया है, वह भी एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। इस सन्धि में

रत्नसेन ने समुद्र से मिले पाँच रत्न अलाउद्दीन को दिये और बदले में चंदेरी की जागीर प्राप्त की। 'बाबरनामा' में उल्लखित एक विवरण के आधार पर राणासाँगा के द्वितीय पुत्र विक्रमाजीत (रत्नसिंह के सौतेले भाई) ने बाबर को सोने की कमर पेटी और रत्नजटित मुकुट भेंट किया था, बदले में बाबर ने उसे शाहाबाद की जागीर प्रदान की थी। इसी ऐतिहासिक घटना की झलक रत्नसेन और अलाउद्दीन के बीच हुई सन्धि में मिलती है।

पद्मावत में हरेबों के आक्रमण का उल्लेख हुआ है। अलाउद्दीन ने रत्नसेन से युद्ध बन्दकर सन्धि इसीलिये कर लिया था कि उसके राज्य के कुछ भागों में हरेबों का उत्पात बहुत बढ़ गया था। यह तथ्य बदले हुए नाम के अतिरिक्त ऐतिहासिक है। अलाउद्दीन ने जिस समय मेवाड़ पर घेरा डाल रखा था, उसी समय पंजाब में बसे मंगोलों ने दिल्ली घेर लिया था। जायसी ने मंगोलों की इसी चढ़ाई को हरेबों की चढ़ाई का नाम दिया है।

इस प्रकार इतिहास की अनेकों घटनाओं से प्रेरणा लेकर जायसी ने पद्मावत के कथानक की रचना की थी। ऐतिहासिक घटनाओं को उन्होंने अपनी कथा के अनुकूल विविध कल्पनाओं से मण्डित कर प्रस्तुत किया। जहाँ तक कथानक की ऐतिहासिकता का प्रश्न है उसमें केवल दो नाम—अलाउद्दीन और रत्नसेन ही ऐतिहासिक हैं। कथा की नायिका 'पद्मावती' का इतिहास में कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक राजा रत्नसेन की रानी का नाम पद्मावती नहीं था।

सिंहलद्वीप की कल्पना भी ऐतिहासिक नहीं है। यह नगर बहुत प्राचीनकाल से पद्मिनी स्त्रियों की जन्म-भूमि के रूप में प्रसिद्ध रहा है। यह द्वीप भौगोलिक दृष्टि से कहाँ स्थित है कुछ पता नहीं चलता। जायसी ने यह नाम परम्परा में प्रचलित अन्य कथाकृतियों से प्रेरणा स्वरूप ग्रहण किया होगा। बलाहस्स जातक में १६ महा जन-पदों का उल्लेख है। भरुकच्छ जनपद से सुवण्ण भूमि (ब्रह्मा, मलाया) तक समुद्री यात्रा में सिंहलद्वीप दक्षिण ओर पड़ता था। वहाँ यात्रियों के ठहरने और आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने की सभी सुविधाएँ थीं। कहा जाता है कि इस प्रदेश में अनेकों यक्षिणियाँ निवास करती थीं, जो भूले

भटके यात्रियों को बहकाकर खा जाती थी। धीरे-धीरे इन यक्षिणियों की कल्पना, सुन्दरी रमणियों के रूप में परिवर्तित होती गयी और सिंहलद्वीप सुन्दरी रमणियों का द्वीप माना जाने लगा। धीरे-धीरे कथाओं के माध्यम से सिंहल देश 'त्रियादेश' के रूप में परिवर्तित होता गया। जायसी के पद्मावत में उल्लिखित सिंहलद्वीप भी जातककथा का ही सिंहलद्वीप लगता है। जो पूर्वी समुद्र का कोई टापू होना चाहिए। पद्मावत में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि रत्नसेन ने उड़ीसा के राजा गजपति से नावों के बेड़े प्राप्त कर अपनी यात्रा प्रारम्भ की। फलतः सिंहलद्वीप पूर्वी समुद्र का कोई द्वीप होना चाहिए। आधुनिक सिंहल (लंका) से इसका कोई साम्य नही दिखायी देता। सभी सम्भावनाओं पर विचार करते हुए सिंहल को दक्षिण ब्रह्मदेश का कोई तटवर्ती प्रसिद्ध स्थान माना जाना चाहिए। डा० हजारी प्रसाद द्विबेदी ने सिंहल को नाथ योगियों की साधना का परीक्षा स्थान मानते हुए इसकी स्थिति की कल्पना हिमालय के चरणों में की थी। परन्तु बौद्धधर्म के ऐतिहासिक विकास को देखते हुए यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सातवीं शदी से बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र बर्मा या ब्रह्म देश हो गया था। अतः उसकी साधना भूमि भी यहीं कहीं आसपास होनी चाहिए। इस प्रकार नाथयोगियों की परीक्षा भूमि के रूप में भी सिंहल की स्थिति पूर्वी प्रदेश में ही होनी चाहिए। इन सभी विवादों से परे एक तथ्य यह भी है कि सिंहलद्वीप भारतीय कथाओं में सुन्दरी रमणियों की उद्भव भूमि माना जाता रहा है, इसी रूप में जायसी ने भी इसे ग्रहण किया।

सिंहलद्वीप की कल्पना की प्रेरणा की भाँति ही जायसी ने सुआ प्रसंग की प्रेरणा भी परम्परा प्रचलित कथाओं से ली। पद्मावत का हीरामन, कादम्बरी तथा कल्कि पुराण के शुक की याद दिलाता है। कादम्बरी और कल्किपुराण के शुक भी मानुसी भाषा में बातचीत करते हैं। ये सभी विशेषताएँ पद्मावत के शुक में भी प्राप्त होती हैं। कल्किपुराण में तो कल्कि की पत्नी का नाम भी पद्मावती ही है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जायसी ने पद्मावत के कथानक

की रचना में अनेकों ऐतिहासिक तथा काव्यजगत में प्रचलित घटनाओं को ग्रहण किया और उन्हें अपनी कवि कल्पना के रंग में रंगकर प्रस्तुत किया। 'पद्मावत' एक काव्य कृति है उसमें ऐतिसासिकता ढूँढ़ना कवि की कल्पनाओं के साथ अनाचार करना होगा। कोई भी कवि स्थूल घटनाओं से प्रेरणा भले ही ले, पर वह उन घटनाओं को चित्रित करने में स्वच्छंद होता है। यह आवश्यक नहीं कि उसकी काव्य-रचना से ऐतिहासिक तथ्य उद्भासित हों ही। जायसी ने भी इसी भावना के अनुकूल कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों को ग्रहण करते हुए भी उन्हें अपनी कल्पना के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। पद्मावत का पूर्वार्द्ध भाग पूर्णरूपेण कवि-कल्पना की उपज है, इस भाग में कवि ने पूर्वपरम्परा की कृतियों में चित्रित कथा-रूढ़ियों का सहारा अवश्य लिया है, परन्तु कथा पूर्णरूपेण उनके मस्तिष्क की उपज है। कथा के उत्तारार्द्ध भाग में ऐतिहासिकता और कविकल्पना का मणिकांचन योग है। कवि ने ऐतिहासिक घटनाओं को ग्रहण करते हुए भी उन्हें अपने उद्देश्यों के अनुकूल ढाला। इतिहास के अनुसार रत्नसेन अलाउद्दीन के हाथों युद्ध में मारा गया और उसकी रानियों ने जौहर कर लिया। परन्तु कवि हिन्दू धर्म और संस्कृति को ध्यान में रखते हुए इस घटना में अपनी कल्पनाओं का रंग भरता है। रत्नसेन की रानियाँ-पद्मावती और नागमती-रत्नसेन के शव के साथ सती होती दिखायी गयी हैं। कवि की इस अद्भुत कल्पना के अन्तराल में उसके मुसलमान शरीर में छिपी हुई हिन्दू आत्मा स्पष्ट ही उद्भासित हो रही है। इसी प्रकार प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्य को कवि अपनी मान्यताओं के अनुरूप काल्पनिक रंगों में चित्रित करता है। पद्मावत का अथ से इति तक सम्पूर्ण कथानक जायसी की कल्पना-शक्ति का परिचायक है । रत्नसेन और पद्मावती की प्रेमकथा को वह पूर्वार्द्ध तक में ही समाप्त कर सकता था, परन्तु उसका उद्देश्य अधूरा ही रह जाता। वह प्रेम की अमरता में विश्वास करता है, उसके लिए प्रेम एक कठिन परीक्षा है। रत्नसेन को इसीलिए वह बार-बार परीक्षा के लिए प्रस्तुत करता है। रत्नसेन लगभग सभी परीक्षाओं में सफल होकर अमरत्व प्राप्त करता है। पद्मावत की कथा का उत्तरार्द्ध भाग इसी प्रेम की परीक्षा का प्रतिरूप है। आत्मा और

परमात्मा के मिलन में शैतान तथा मायावी बन्धन अनेकों बाधाएँ डालते हैं। राघवचेतन और अलाउद्दीन इन्हीं के प्रतिरूप हैं। रत्नसेन रूपी आत्मा इन सभी बाधाओं से टकराकर निष्कलंक निकल जाती है और अन्त में परमात्मामय हो जाती है। पद्मावत की सारी कथा जायसी की मान्यताओं का उज्ज्वल प्रतिबिम्ब है। कवि का उद्देश्य अपनी मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण और निज-काव्य-कौशल-प्रदर्शन रहा है, इतिहास लिखना नहीं। अतएव पद्मावत की कथा में ऐतिहासिक तथ्यों की खोज कवि की भावनाओं पर आघात पहुँचाना है। समस्त कृति में कवि-कल्पना का ही राज्य है, यह बात अलग है कि कुछ कल्पनाओं के अन्तराल से ऐतिहासिक तथ्य भी झाँकने लगते हैं। यह तो ध्रुव सत्य है कि कवि अपने युगसत्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इन युग-सत्यों का संकेत वह अपनी कृति में किसी न किसी रूप में करता भी है। इसी भावना के वशीभूत जायसी ने अपनी कृति में कुछ ऐतिहासिक नामों और घटनाओं का उल्लेख किया है, परन्तु ये सभी कवि के उद्देश्य में साधक हैं, बाधक नहीं। इतिहास इन्हें सत्य कहेगा या मिथ्या, इन बातों से कवि को कोई लगाव नहीं है।

पद्मावत की कथा के मूल-स्रोत –

'पद्मावत' की कथा जायसी की कल्पनाओं से मण्डित होते हुए भी एक परम्परा प्रचलित कथा रही है। जायसी के पहले भी रत्नसेन और पद्मावती की कथा लिखी जा चुकी थी। सन् १४१० ई० में राजवल्लभ पाठक ने संस्कृत में रत्नसेन और पद्मावती की कथा लिखी थी। इसके पहले भी प्राकृत में 'रयणसेहरकहा' (रत्न शेखर कथा) नाम की एक कथा कृति लिखी जा चुकी थी, जिसका स्पष्ट ही पद्मावत पर प्रभाव है। डा० हरदेव बाहरी ने तो इसे पद्मावत की कथा का पूर्वरूप ही माना है। इसी प्रकार हर्षरचित 'रत्नावली' नाटिका की नायिक भी पद्मावती की ही भाँति सिंहलद्वीप की है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचित 'पृथ्वीराजरासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' की कथा भी पद्मावत की कथा के पूर्व रूप में देखी जा सकती है। 'ढोलामा-

रूरा दोहा' और अपभ्रंश की 'करकंड चरिउ' कृति की कथा भी पद्मावत की कथा के समीप है। स्वयं जायसी का यह कथन भी स्पष्ट प्रमाण है कि उन्हें अपनी कथा की रचना में पूर्व प्रचलित कथानकों से प्रेरणा मिली—

आदि अंत जस गाथा अहै।
लिखि दोहा चौपाई कहै॥

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल भी स्वीकार करते हैं कि—"जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके, इसे काव्य का सुन्दर रूप दिया है।'

इसके अतिरिक्त सिंहलद्वीप तथा वहाँ तक रत्नसेन के पहुँचने में आनेवाली बाधाओं आदि की कल्पना की प्रेरणा भी जायसी को नाथपंथी हठ-योगियों की मान्यताओं से मिली। सिंहल के लिए इन योगियों ने 'कदलीबन' 'कजरीबन' 'त्रियादेश' 'स्त्रीदेश' आदि नाम दिया है। इसे उन्होंने योगियों की परीक्षा भूमि के रूप में कल्पित किया है। योगी तब तक सिद्ध नहीं माना जाता था जब तक कि वह 'स्त्री देश' जाकर वहाँ की सुन्दरी रमणियों के रूपजाल से निकलकर न आ जाये। मछन्दरनाथ जैसे योगियों को भी इस परीक्षा से गुजरना पड़ा था। पद्मावत में रत्नसेन द्वारा पद्मावती की खोज के लिए योगी-वेश धारण कर निकल पड़ना, नाथ-योगियों के परीक्षा-भूमि गमन का ही प्रतिरूप लगता है। नाथ-पंथियों की मान्यता के अनुकूल ही जायसी ने सिंहलद्वीप में पद्मावती जैसी सुन्दरी रमणी के जन्म की कल्पना की। जायसी ने तो इसे स्वर्गीय ज्योति खुदा का नूर) ही मान लिया। इसी की प्राप्ति के लिए रत्नसेन रूपी योगी सिंहलगढ़ की यात्रा करता है। रत्नसेन की यह यात्रा कुरान में वर्णित मुहम्मद साहब की बिहिस्त (स्वर्ग) यात्रा की प्रतिरूप लगती है। जिस प्रकार स्वर्ग पहुँच-कर जीव अनेकों सुखों का उपभोग करता हुआ आनन्द मनाता है, उसी प्रकार रत्नसेन भी अनेकों बाधाओं को पार करने के बाद सिंहलद्वीप पहुँचकर पद्मावती के साथ अनन्त सुख का उपभोग करता है। जायसी सिंहलद्वीप को 'कबिलास' (कैलास) कहते हैं, यह हिन्दू धर्म की दृष्टि से अनन्तशान्ति का प्रतिरूप है और

कुरान की दृष्टि से बिहिश्त का। इस प्रकार पद्मावती के पूर्वार्द्ध की सम्पूर्ण कथा एक ओर तो परम्परा की कृतियों से प्रेरणा लेती देखी जाती है, दूसरी ओर इसका सम्पूर्ण रूप नाथपंथी योगियों तथा सूफी मान्यताओं के अनुरूप निर्मित है। इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए डा० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं—"........पद्मावत की कथा का पूर्वार्द्ध निर्मित करते समय जायसी के मन में लोकअनुश्रुति; नाथपंथी योगियों का साम्प्रदायिक विश्वास, अपभ्रंश साहित्य के प्रेमकथानक, संस्कृत साहित्य की पद्मावती नायिका और सूफी-साधना का सैद्धान्तिक रूप, सब कुछ कार्य करता रहा है। इन सबको एक में गूँथकर तथा उसे अलाउद्दीन और चित्तौर के ऐतिहासिक कथानक से जोड़कर, उन्होंने पूरी प्रेम-कथा को अभिनव रूप प्रदान कर दिया।" कथा संयोजना की जितनी अद्भुत प्रतिभा जायसी में है अन्य किसी कवि में नहीं दिखाई पड़ती। जायसी की कथा एक ओर लोक-पक्ष का उद्घाटन करती हैं, दूसरी ओर आध्यात्मिक-पक्ष की भी व्यंजना होती चलती है। कथा के अनेकों स्थल समासोक्ति के अच्छे उदाहरण हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पद्मावत की कथा सचमुच 'सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी' की विशेषता से संयुक्त है।

पद्मावत में प्रयुक्त कथा-रूढ़ियाँ—

यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि भारतीय साहित्य में प्रेमकथा लिखने की परम्परा अति प्राचीन है। महाभारत काल (४ थी शदी ई० पू०) से इसकी परम्परा प्रारम्भ होती है, फिर पुराणों से होती हुई संस्कृत के आख्यायिका काव्यों में अपना रूप-विकास प्रात करती है। इन कथाओं के अन्तराल में लोक-जीवन में प्रचलित रूढ़ियाँ ही अधिक स्थान पा सकी हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में लिखी गयी कथाएँ तो अधिकांशतः लोक-जीवन में प्रचलित कथा कहने के प्रतिमानों को लेकर चली हैं। प्रारम्भ से ही इन कथाओं में कुछ रूढ़ियाँ व्यवहृत होती रही हैं। जायसी का 'पद्मावत' भी भारतीय प्रेमकथा-काव्य परम्परा का एक ग्रन्थ है। पारम्परिक प्रेम-कथाओं में जितनी भी रूढ़ियाँ व्यवहृत हुई थीं, लगभग सभी का व्यवहार पद्मावत में भी हुआ है। इन्हीं रूढ़ियों

का विवेचन यहाँ अभीष्ट है। एक बात और भी है, प्रेमकथा परम्परा का प्रारम्भ जब से हुआ, तभी से यह धर्म एवं संप्रदायगत मान्यताओं तथा लोक व्यवहारों के प्रसार का साधन बनी रही। प्राकृत तथा अपभ्रंश के जैन-कवियों ने ऐसी कथाओं के माध्यम से ही ही लोक-जीवन में अपने मत-मतान्तरों का प्रसार किया। यह भावना जायसी की प्रेम-कहानी में भी निहित देखी जा सकती है। इस कथा में जायसी की धर्म एवं सिद्धान्तगत मान्यताएँ स्पष्ट ही उद्भासित होती हैं। 'पद्मावत' में व्यवहृत कथा-रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं।

(१) प्रेमकथा का प्राधान्य।

(२) राजकुमार या राजा (रत्नसेन) तथा राजकुमारी (पद्मावती) का क्रमशः आश्रय और आलम्बन रूप में कल्पित किया जाना।

(३) नायिका की जन्म-भूमि सिंहलद्वीप को सौन्दर्य-प्रेम एवं वैभव-विलास की उच्चभूमि के रूप में चित्रित करना।

(४) हीरामन तोते का श्रेष्ठ पंडित एवं मानुषीवाणी का व्यवहार करने वाला होना।

(५) गुण श्रवण के द्वारा नायक का प्रेमासक्त होना।

(६) नायिका की प्राप्ति के लिए योगी-वेश में निकल पड़ना और तरह-तरह की विपत्तियों का सामना करना।

(७) महादेव और पार्वती का नायक की प्रेम-परीक्षा लेना तत्पश्चात् उसकी सहायता करना।

(८) शिव-मण्डप में दोनों प्रेमियों का प्रथम-मिलन तथा प्रेमातिरक से नायक का मूर्छित होकर गिर पड़ना।

(९) कथा के बीच आवश्यक स्थलों पर देववाणी या आकाशवाणी का व्यवहार।

(१०) नायक की पूर्व परिणीता पत्नी का वियोग-चित्रण।

(११) प्रेमी और प्रेमिका को मिलाने के लिए पक्षी (हीरामन तोते) का दूत-कार्य करना।

(१२) नायिका के पिता या संरक्षक द्वारा नायक का गिरफ्तार किया जाना अन्त में दैवी सहायता से मुक्ति और नायिका के पिता की स्वीकृति।

(१३) नायक और नायिका का मिलन तत्पश्चात् नायक का नायिका के साथ अपने घर की ओर प्रस्थान परन्तु मार्ग में आपततः आयी हुई विपत्तियों के कारण दोनों का पुनः अलग हो जाना।

(१४) किसी अलौकिक शक्ति की सहायता से दोनों का पुनर्मिलन।

(१५) सपत्नी के प्रति ईर्ष्या।

(१६) लौकिक प्रेम कहानी के माध्यम से आध्यात्मिक तत्वों एवं ईश-प्रेम की व्यंजना।

(१७) पर्याप्तकाल तक साथ रहकर नायक-नायिका का मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग प्रस्थान।

पद्मावत में व्यवहृत ये कथारूढ़ियाँ, परम्परा प्रचलित कथाओं से ली गयी हैं। भारतीय प्रेमाख्यानों की रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है। 'पद्मावत' की कथा का पूर्वार्द्ध भाग ही प्रायः प्रेमकथा की पारम्परिक रूढ़ियों का अनुगमन करता है, उत्तरार्द्ध भाग की कथा तो जोड़ी हुई सी लगती है, पद्मावत की प्रेम-कहानी से उसका सम्बन्ध जबरदस्ती का सा लगता है। इस भाग में घटनाओं की वर्णनात्मकता ही प्रधान है, प्रेम-व्यंजना तो ढूँढ़े से भी नहीं मिलती। ऐसा लगता है, जैसे कि कवि ने इसी कथा के माध्यम से युगीन सत्य को भी रूपायित किया हो, वरना रत्नसेन और पद्मावती की अलौकिकता की ओर उन्मुख प्रेम कहानी के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का जोड़ कुछ ठीक नहीं बैठता। पद्मावत की कथा में जितनी भी रूढ़ियाँ व्यवहृत हैं सभी सोद्देश्य हैं। एक लोकप्रसिद्ध प्रेमकथा का आश्रय लेकर कवि ने अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण भलीभाँति किया है। नायक की कल्पना में वह एक साधक योगी का रूप स्पष्ट करता है, नायिका की कल्पना में परमपिता परमेश्वर के रूप का चित्रण है। सिंहलद्वीप तो कवि का बिहिस्त (स्वर्ग) ही है। हीरामन तोते की परिकल्पना साधना मार्ग में गुरु की महत्ता का स्पष्टीकरण है। नायक का नायिका के प्रति अटूट प्रेम और नायक क

उसकी प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न भारतीय समाज में पुरुष और स्त्री के आदर्श सम्बन्ध का द्योतन करता है। महादेव और पार्वती की चर्चा, भारतीय जीवन में देवताओं के प्रति अटूट आस्था को अभिव्यक्ति देती है। आकाश-वाणियों और देववाणियों में भारतीय विश्वास संचित है। इस प्रकार पद्मावत में जितनी भी कथारूढ़ियाँ व्यवहृत हैं—सभी का एक निश्चित उद्देश्य है। लोकरंजनकारी कथाओं के माध्यम से अलौकिक तत्वों की व्यंजना तो अत्यन्त सफल बन पड़ी है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध भाग की कथा एक ओर तो रत्नसेन और पद्मावती की लोकरंजनकारी कथा है, दूसरी ओर आत्मा और परमात्मा के मधुर सम्बन्धों की व्यंजना भी है। पद्मावती परमज्योति की प्रतिरूप है, रत्नसेन इस ज्योति के समीप तक पहुँच कर उसमें विलीन हो जाने के लिए लालायित आत्मा का प्रतिरूप है। हीरामन तोता गुरु है जो रत्नसेन रूपी आत्मा को पद्मावती रूपी परब्रह्म तक पहुँचाने का मार्ग-निर्देश करता है। संक्षेप में, पद्मावत की कथा का पूर्वार्द्ध भाग जायसी की उर्वरकल्पना का श्रेष्ठ निदर्शन होने के साथ ही परम्परा प्रचलित रूढ़ियों का पूर्णरूपेण अनुगमन करता है। 'पद्मावत' की कथा का यही भाग इस कृति को 'समासोक्ति-काव्य' की कोटि तक पहुँचाता है। समासोक्ति का लक्षण है प्रस्तुत के वर्णन में ही अप्रस्तुत की व्यंजना। पद्मावती और रत्नसेन की प्रेमकहानी प्रस्तुत है और उसके अन्तराल से झांकने वाली आत्मा और परमात्मा की प्रीति अप्रस्तुत। उदाहरणों सहित इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

पद्मावत एक प्रेमगाथा है—जीवन-गाथा नहीं—

'पद्मावत' का कवि अपने काव्य में एकान्तिक प्रेम को ही अधिक महत्व दे सका है सामाजिक चित्रणों को नहीं। जहाँ कहीं उसे एकान्तिक प्रेम से परे सामाजिक प्रेम के चित्रण का अवसर भी मिला है, वह अपनी एकनिष्ठता में ही खोया रहा है। और अधिक स्पष्ट शब्दो में रत्नसेन के लिए पद्मावती आकर्षण केन्द्र है और पद्मावती के लिये रत्नसेन। ये दोनों परस्पर एक दूसरे की ओर ही उन्मुख हैं। जायसी को कुछ अवसर मिले भी जहाँ वे एकनिष्ठ प्रेम से परे हट-कर समाजनिष्ठ प्रेम का चित्रण कर सकते थे परन्तु ऐसा करना सम्भवतः उन्हें

अपने लक्ष्य तक पहुँचने में बाधा पहुँचाता । पद्मावत में ऐसे तीन स्थल हैं–(१) रत्नसेन के योगी होते समय उसकी माँ विलाप करती हुई सामने आती है—

विनवै रतनसेन कै माया,
माथे छात पाट नित पाया ।
विलसहु नवलख लच्छि पियारी,
राज छाँड़ि जिनि होहु भिखारी ।

यहाँ मातृ-स्नेह-चित्रण का अवसर मिला पर कवि एकनिष्ठ प्रेम का पुजारी है । पद्मावती के प्रेम में बँधा हुआ रत्नसेन मातृस्नेह का आदर कैसे करे । दूसरा स्थल पद्मावती की विदाई का है—जिस अवसर पर कवि ने समाजनिष्ठ सखी-प्रेम-मातृप्रेम, परिवार-प्रेम तथा मातृ भूमि-प्रेम की व्यंजना की है । परन्तु पद्मावती प्रिय के मादक एवं तीव्रप्रेम के समक्ष इन सभी को नगण्य समझती है—

रोवहिं मात-पिता औ भाई ।
कोउ न टेक जो कंत चलाई ॥

यहाँ भी कवि समाजनिष्ठ प्रेम के समक्ष एकनिष्ठ प्रेम को ही महत्ता देता है । तीसरा स्थल-नागमती के विरह का है । यह प्रेम एक प्रकार से एक-निष्ठ होते हुए भी समाजनिष्ठ हो गया है । नागमती-रत्नसेननिष्ठ है, पर कवि को यह अभीष्ट कहाँ, जबकि वह रत्नसेन को पद्मावतीनिष्ठ बना चुका है । नागमती का करुणा की स्थिति तक पहुँचने वाला विरह-चित्रण व्यर्थ ही रहा । नागमती के रुदन का क्या महत्व जब स्वयं रत्नसेन ही उस पर ध्यान न दे । ऐसी स्थिति इसलिए आयी है कि कवि का प्रेम एक निष्ठता का दुराग्रही है । रत्नसेन की दृष्टि में पद्मावती ही सब कुछ है, माँ, पत्नी तथा परिजनों का प्रेम कुछ नहीं, पद्मावती भी रत्नसेन की अनुगामिनी है । अब एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि कवि ने ऐसा क्यों किया ? इसका साधारण सा उत्तर है, पद्मावत एक प्रेमगाथा है जिसमें व्यक्तिगत प्रेम को साधनात्मक स्तर तक पहुँचा दिया गया है, यदि यह जीवन-गाथा होती तो निश्चित रूप से इसमें समाजनिष्ठ प्रेम को भी स्थान मिलता । सामाजिक समस्याओं, स्थितियों और

घटनाओं के चित्रण का उसे अवकाश ही नहीं मिल पाया। वह अपनी प्रेमाभिव्यक्ति में ही दत्त-चित्त रहा। कथा के पूर्वार्द्ध तक तो उसका एक ही लक्ष्य रहा—पद्मावती और रत्नसेन का साधनात्मक स्तर तक पहुँचा हुआ, एकनिष्ठ प्रेम-चित्रण। इसके बीच जिन लोकतत्वों की झलक मिलती भी है, वे केवल उसकी प्रेम-व्यञ्जना में सहायक बनकर ही आये हैं। हाँ कहीं-कहीं कवि अपने संवेदनशील स्वभाव को छिपा नहीं सका और वह स्वयं व्यक्त हो गया, उदाहरण के लिए 'नागमती विरह चित्रण' को देखा जा सकता है। परन्तु संवेदना प्रकट करते हुए भी, प्रेमकहानी के बीच वह इसके महत्व को प्रतिपादित न कर सका। कथा के उत्तरार्द्ध भाग में वह कुछ लोक-जीवन की अभिव्यक्तियों को सामने लाता है, इसमें कुछ उत्साह के प्रसंग है, कुछ क्षोभ के, कुछ शौर्य तथा कुछ छल और प्रपंच के। परन्तु इन सबका उद्देश्य भी 'पद्मावती और रत्नसेन' के प्रेम को पुष्ट करना ही रहा है। उदाहरण के लिए गोरा-बादल की वीरता के प्रसंगों को लीजिए। ये प्रसंग स्वतन्त्र रूप से गोरा और बादल के लिए नहीं आयोजित किये गये। गोरा-बादल का सारा प्रयास पद्मावती और रत्नसेन के प्रेम की रक्षा रहा है। इस प्रकार 'पद्मावत' के विस्तृत चित्र-पट पर केवल एकनिष्ठ प्रेम का ही राज्य है, इसकी कथा एक विशुद्ध प्रेमगाथा है, लोकजीवन से सम्बद्ध गाथा नहीं है। इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं—............'उसका लोकव्यापी उद्देश्य नहीं है। रामकथा में (जो पूर्ण जीवन गाथा है) राम का उत्साह केवल सीता की मुक्ति के लिए नहीं है, वह देव-ऋषि-रक्षा के लिए भी है। स्पष्ट है कि पद्मावत में निरूपित प्रेम सर्वथा एकान्तिक एवं लोक-बाह्य चाहे न हो, किन्तु वह जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करने वाला नहीं है। सत्य तो यह है कि पद्मावत शृंगाररसप्रधान काव्य है और उसका बीज-भाव प्रेम ही है। यह कथा प्रिय की अद्वैतता को सिद्ध करने वाली है, लोक मंगल का विधान करने वाली नहीं। समग्र जीवन का विधान करने वाली एक लोक-मंगल की दृष्टि से लिखी गयी कथा का बीज-भाव 'करुणा' ही हो सकता है। क्योंकि लोक-मंगल का विधान करने वाली वृत्ति तो करुणा ही है।"

पद्मावत में प्रेम का स्वरूप—

जायसी अलौकिता की ओर उन्मुख लौकिक प्रेम के अमर गायक कवि हैं। इनकी प्रेम सम्बन्धी मान्यताएँ सूफी मत की मान्यताओं के अनुकूल हैं। इनका पद्मावत महाकाव्य, अथ से इति तक प्रेम की महिमा का गुणगान करता है। उनकी दृष्टि में मानव जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु प्रेम है, यही प्रेम मनुष्य में न होता तो निश्चित रूप से वह राख के ढेर के समान होता। मिट्टी का मानव प्रेम के बल पर ही बैकुंठवासी बनता है अर्थात् परम सुख प्राप्त करता है—

मानुस प्रेम भएउ बैकुंठी।
नाहित काह छार एक मूठी ॥

जायसी की दृष्टि में तीन लोकों और चौदह भुवनों में प्रेम से बढ़कर सुन्दर और कोई वस्तु है ही नहीं—

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाँड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि ॥

प्रेम एक ऐसी सुरा है जिसे पी लेने वाले व्यक्ति को न तो मृत्यु से भय होता है और न जीवन की बाधाओं से ही। परन्तु प्रेम साधना अत्यन्त कठिन है इस साधना में साधक को अपना सिर तक उत्सर्ग कर देने के लिए उद्यत रहना पड़ता हैं। प्रेम के बीहड़ पथ पर वही चल सकता है, जो संसार से उदासीन होकर योगी, जती और तपस्वी तथा संन्यासी बन सकता हो—

ओहि पंथ जाइ जो होइ उदासी।
जोगी जती तपा सन्यासी ॥

प्रेम आकाश से भी ऊँचा है आकाश को तो दृष्टि से देखा भी जा सकता है, पर अदृष्ट प्रेम तक कठिनाई से दृष्टि पहुँचती है—

गगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा।
प्रेम अदिस्ट गगन सौं ऊँचा ॥

परन्तु प्रेम के इस ऊँचे पद तक जो भी पहुँच जाता है, वह अमर हो जाता है, उसे फिर से लौटकर मृण्मय शरीर नहीं धारण करना पड़ता—

प्रेम पंथ जो पहुँचे पारा।
बहुरि न आइ मिलै एहि छारा॥

प्रेम के पर्वत पर सिर के बल चढ़ना पड़ता है--उस तक पहुँचना कोई साधारण कार्य नहीं है—

प्रेम पहार कठिनविध गढ़ा।
सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा॥

ऐसा व्यक्ति, जिसके घर में दस पंथ है, अर्थात् जो इन्द्रियों के प्रभाव में है, जिसके शरीर रूपी घर में पाँच चोर (काम, क्रोध, तृष्णा, मद माया) निवास करते हैं, प्रेम के कठिन मार्ग पर नहीं चल सकता—

तू राजा का पहिरसि कंथा।
तोरे घटहिमाँह दस पंथा॥
काम क्रोध तिस्ना मद माया।
पाँचौ चोर न छाड़हि काया॥

इस प्रकार पद्मावत में पग-पग पर जायसी ने प्रेम की महिमा का गुण-गान किया है। उनकी दृष्टि में परमात्मा की प्राप्ति केवल प्रेम-साधना के बल पर ही हो सकती है। परमात्मा भी प्रेम स्वरूप है, वह परम सौन्दर्यमय है। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, सभी पर परमात्मा अपने सौन्दर्य की छाया डालता है। इसलिए जायसी की दृष्टि में अखिल सृष्टि ही प्रेममयी है। अद्भुत सौन्दर्यमय परमात्मा की प्राप्ति एकमात्र प्रेम की साधना से ही हो सकती है। जायसी की सभी मान्यताएँ सूफीमत के अनुरूप हैं। प्रेम की यही महत्ता पूरे पद्मावत में प्रतिपादित की गयी हैं। रत्नसेन रूपी साधक, परम सौन्दर्यमय परमात्मा रूपी पद्मावती की प्राप्ति के लिए, अनेकों बाधाएँ सहन करता है, वह उसी के प्रेम में मग्न, सभी भौतिक प्रलोभनों को छोड़ योगी बनकर निकल पड़ता है अन्त में प्रेममयी साधना के बल पर परमात्मा के ऊँचे निवास-स्थान कविलास (बिहिस्त) में पहुँचकर, परमसुख की प्राप्ति करता है।

पद्मावत का प्रेम-चित्रण रहस्यवाद के स्तर तक पहुँचा हुआ है। इसमें व्यंजित लौकिक प्रेम साधारण प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम न होकर आत्मा और

परमात्मा का प्रेम हो गया है। पद्मावती की प्राप्ति के लिए रत्नसेन द्वारा किये गये प्रयत्न भी हठयोगियों तथा सूफी मत की साधना पद्धतियों के प्रतिरूप हैं। इस प्रकार पद्मावत की पूरी कथा रहस्यवादी भावना से मण्डित है। सिंहल-द्वीप के वर्णन तथा पद्मावती के रूप-वर्णन में तो ये भाव अत्यन्त स्पष्ट हो गये हैं। जायसी के रहस्यवाद की विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

मनुष्य की आनन्दमयी एवं सच्ची प्रेमानुभूति का जीता-जागता वर्णन प्रस्तुत करना ही, प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के कवियों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। जायसी इस लक्ष्य-सिद्धि में सबसे सफल कवि रहे। उनकी 'पद्मावत' ललित, मानवीय एवं ईश्वरीय प्रेम की सच्ची गाथा है। जायसी का रोम-रोम प्रेम की महिमा से उद्दीप्त है, शरीर के कुरूप होते हुए भी उनका हृदय प्रेम की आनन्दानुभूतियों से पूर्ण है। सचमुच वे प्रेम के सच्चे कवि हैं—वे स्वयं भी तो कहते हैं—

मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु
जेइ मुख देखा तेइ हंसा, सुना तो आए आँसु ॥

उनका शरीर प्रेम से ही बना है रक्त, मांस मज्जा से नहीं।

———

१३

पद्मावत की कथा का अध्यात्म-पक्ष

जायसी की पद्मावत एक लौकिक कहानी होने के साथ ही श्रेष्ठ आध्यात्मिक कृति भी है। इसमें एक ओर सूफी मान्यताएँ हैं तो दूसरी ओर भारतीय अद्वैत और हठयोग सिद्धान्तों का चमत्कार निहित है। पद्मावत में 'पद्मावती' की परमज्योति रूप में कल्पना, सूफियों की मान्यता के अनुकूल होने के साथ ही अद्वैत के ब्रह्म तथा हठयोगियों के शून्य तत्व से साम्य रखती है। कथा-निर्वाह के साथ ही जायसी ने दार्शनिक तत्वों का जितना सुन्दर निदर्शन किया है वह अपने आप में सराहनीय है। इसीलिए 'पद्मावत' की कथा जहाँ एक ओर रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम-कहानी है वहीं दूसरी ओर वैयक्तिक साधना और आत्मा-परमात्मा तथा प्रकृति-पुरुष के अमर सम्बन्धों की भी कथा है। भारतीय योगसिद्धान्त का तो जितना सरल एवं सुबोध चित्रण पद्मावत में किया गया है अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। 'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध भाग भारतीय हठयोग की विविध साधना पद्धतियों का सुष्ठु निदर्शन प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल है।

पद्मावत की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता —

पद्मावत का कवि एकेश्वरवादी है वह ईश्वर को परम सौन्दर्यधारिणी स्त्री के रूप में कल्पित करता है। 'पद्मावती' उसी परमज्योति के रूप में चित्रित है। वह अखिल विश्वव्यापी महाज्योति है। यही ज्योति आकाश में चन्द्रमा के रूप में उदित होती है। पद्मावती शिवलोक की मणि है, जो सिंहलद्वीप को प्रकाशित करने के लिए अवतरित होती है। वह अरूप ज्योति भौतिक जगत का रूप सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए ही मातृकुक्षि में प्रवेश करती है। मातृकुक्षि

में उसे छाया रूप में परिवर्तित होना पड़ता है। पद्मावती रूपी परमज्योति, चम्पावती की कुक्षि में छाया के रूप में प्रवेश करती है—

चम्पावति जो रूप उतिमाँहा।
पद्मावति क जोति मन छाँहाँ।।

'पद्मावती' रूपी महाज्योति के प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनों ही अद्भुत सौन्दर्य से युक्त है। अमूर्त एवं विशुद्ध महाज्योति के रूप में पद्मावती सूर्य थी जो रत्नसेन के हृदय में भर जाती है। अपने पंचभौतिक रूप में वह सोलहों कलाओं से युक्त चन्द्रमा है जिसे पाने के लिए रत्नसेन रूपी सूर्य व्याकुल रहता है। पद्मावती रूपी महाज्योति रूप देने वाली पारसमणि है, संसार की सभी सुन्दर वस्तुएँ उसी से रूप ग्रहण करती है, अर्थात् संसार में जितने रूप हैं सभी उसकी छाया है। अखिलसृष्टि दर्पण के समान है, इसमें दिखायी पड़ने वाले नाना रूप उस परमज्योति रूपी पद्मावती के प्रतिबिम्बमात्र है। कमल उस परमज्योति रूप पद्मावती के नयनों की छाया है, निर्मल नीर उसके शरीर की छाया है। श्वेत हंसों में उसकी हँसी का प्रतिबिम्ब हैं तथा नग और हीरे उस की दशनज्योति के रूप हैं। इस प्रकार दुनियां की जितनी भी सुन्दर वस्तुएँ हैं सभी उस परमज्योति की रूप हैं। ऐसालगता है जैसे वह परमज्योति सृष्टि रूपी दर्पण में अपने रूप दर्शन की चाह को पूर्ण कर रही हो। जायसी पद्मावती के इसी परमज्योतिमय रूप को लक्ष्य कर कहते है—

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।।
भा निरमल तिन्ह पायन्हँ परसे। पावा रूप-रूप के दरसे।।
+ + × × +
पावा रूप-रूप जस चहा। ससिमुखजनु दरपन होइ रहा।।
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।।

रत्नसेन रूपी सूर्य इसी परमज्योति के प्रकाश में आकण्ठ निमज्जित हो उठता है—

जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिये परगसी।।

यही परमज्योति जगत के कण-कण में व्याप्त है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी । तहँ-तहँ छिटि कि जोति परगसी ॥

अखिल सृष्टि में जहाँ कहीं भी अनुराग की लालिमा है, वह भी इसी परम-ज्योति की सौन्दर्यमयी सत्ता का आभास है—

सूरुज बूड़ि उठा होइ राता । औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसन्त राती बनसपती । औ राते सब जोगी जती ॥

सारी प्रकृति इसी परमज्योति से मिलने के लिए संघर्षशील है—

चाँद सुरुज औ नखत-तराई । तेहि डर अँतरिख फिरहि सबाई ॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा । मारा तैस लोटि भुइं रहा ॥
पानि उठा उठि जाइ न छुआ । बहुरा रोइ आइ भुइ चुआ ॥

इस परमज्योति के समक्ष आकर मनुष्य या देवता कोई भी सचेत नहीं रह पाता । शिवमण्डप में पद्मावती रूपी परमज्योति को देखते ही सभी देवता मूर्छित हो गये । यहाँ तक कि देवाधिदेव शिव की भी चेतना जाती रही—

काटि पवारा जैस परेवा । मर भा ईस और को देवा ॥

जब देवताओं की यह स्थिति थी तो रत्नसेन का मूर्छित हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक था । रत्नसेन तब तक उस ज्योति को प्रत्यक्ष नहीं कर पाता जब तक कि वह उसके हृदय में समा नहीं जाती । परमज्योति के मानवहृदय में प्रवेश करते ही प्रतीक बदल जाता है, शरीर में प्रवेश पाकर वह ज्योत्ति मलिन (छाया) होकर चन्द्रमा बन जाती है, साधक (रत्नसेन) स्वयं सूर्य बन जाता है । सूर्य की स्थिति में वह उष्ण और अशान्त रहता है । पद्मावती रूपी शीतल चन्द्रमा उसे अपनी ओर आकृष्ट करता है, और दोनों मिलकर समरस हो जाते हैं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण पद्मावत में ईश्वर की कल्पना एक परम प्रकाशमान ज्योति के रूप में की गयी है, जो अपने प्रकाश से संसार की प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करती है । अखिल सृष्टि उसके मुख देखने का दर्पण है । प्रकारान्तर से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु उसके प्रभाव से ग्रस्त है । पद्मावत में ईश्वर की कल्पना सूफी मत के अनुरूप है, परन्तु भारतीय अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म की

कल्पना से यह अधिक दूर नहीं है। 'जामी' ने सूफी सम्प्रदाय में मान्य परमात्मा के स्वरूप तथा सृष्टि के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"वह अद्वितीय पदार्थ जो निरपेक्ष है, अगोचर है, अपरिमित है और जो नानात्व से परे है, वही अल-हक्क (परमसत्य) है। दूसरी तरफ अपने नानात्व और अनेकत्व में जब भी गोचर वस्तुओं में अपने आपको प्रकट करता है तब यह सम्पूर्ण रची हुई सृष्टि वही है। अतएव यह सृष्टि उस परमसत्य की दृश्यमान बाह्याभिव्यक्ति है और वह परमसत्य इस सृष्टि का आभ्यन्तर, अदृश्य, सत्य है। यह दृष्टिगोचर होने के पहले उसी परमसत्य के सदृश थी और गोचर होने के बाद उस परमसत्य का इस सृष्टि के साथ सादृश्य है।"

सूफियों की यह ईश्वर सम्बन्धी कल्पना, अद्वैत ब्रह्म कल्पना के अत्यन्त निकट है। अद्वैत सिद्धान्त भी ब्रह्म को सृष्टि का निर्माणकर्त्ता और पालक मानता है। जायसी पर तो स्पष्ट ही अद्वैतवाद का प्रभाव है, उनका प्रतिबिम्बवाद इससे निकट से सम्बन्धित है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जायसी की ईश्वर सम्बन्धी कल्पना सूफी मत और अद्वैतमत दोनों के योग से निर्मित है।

जायसी का साधना पक्ष—

साधना के क्षेत्र में जायसी एक ओर तो सूफी साधना की विभिन्न स्थितियो और दूसरी ओर भारतीय हठयोग सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय उपस्थित करते हैं। भारत के लगभग सभी सन्त हठयोग के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं क्योंकि जिस समय सूफीसन्त भारत में आये योगसिद्धान्त अपने विकास एवं प्रसार की चरमसीमा पर पहुँच चुका था, अतः सूफियों का इससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। जायसी पर तो भारतीय योग-सिद्धान्त का पूर्ण प्रभाव है। पद्मावत की कथा का पूर्वार्द्ध तो निश्चित रूप से हठयोग के सिद्धान्तों का विस्तृत दर्शन है। कहीं-कही सूफी साधना के सिद्धातों का भी निरूपण हुआ है, पर अधिकता योग-सिद्धान्तों की ही है।

पद्मावत में निबद्ध रत्नसेन और पद्मावती के मिलन की कथा आत्मा और परमात्मा के मिलन की रहस्यात्मक व्यजंना भी प्रस्तुत करती है। सूफियो के

भारत-प्रवेश काल से ही यहाँ तान्त्रिकों, बौद्धसिद्धों तथा सायन सम्प्रदाय के अनुयायियों ने प्रकृति और पुरुष के मिलन की भावना को भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर दिया था। पद्मावत का प्रकृति-पुरुष-मिलन (पद्मावती-रत्नसेन मिलन) भी इन सम्प्रदायों की भावना का अनुगमन करते हुए चित्रित किया गया है। भारत में, रासायनिक क्रियाओं के माध्यम से प्रकृति और पुरुष के मिलन का चित्रण करनेवाला रसायन सम्प्रदाय सर्वप्राचीन है। इस सम्प्रदाय में प्रकृति और पुरुष के मिलन को 'स्वर्ण-सिद्धि' नाम दिया गया है। स्वर्ण शून्यावस्था का प्रतीक है और 'रूपा' चाँदी संसार का। शून्यावस्था अर्थात् स्वर्ण की प्राप्ति के लिए संसार का त्याग करना पड़ता है। स्वर्ण रूपा के साथ मिलकर मलिन हो जाता है, 'पारद' (प्रेमरस) की सहायता से रूपा (सांसारिक आत्मा) शुद्ध होकर स्वर्ण (सृष्टि के पूर्व की सहज स्थिति) को प्राप्त कर द्वन्द्वातीत हो जाता है।

योगियों ने प्रकृति-पुरुष के इस मिलन को शिव और शक्ति, चन्द्र तथा सूर्य आदि प्रतीकों के मध्यम से व्यक्त किया। बौद्ध सिद्धों ने भी साधक और सहज सुन्दरी मिलन एवं महासुख की कल्पना इसी प्रकार की। जायसी ने इन सभी सम्प्रदायों की विचारधाराओं को ग्रहण कर, रत्नसेन-पद्मावती (पुरुष प्रकृति) मिलन की भावना को अभिव्यक्ति दिया है। जायसी ने इस मिलन को सूर्य-चन्द्र मिलन नाम दिया, जो योग सम्प्रदाय से ग्रहण किया गया है। भारतीय योग सिद्धान्त के अनुसार शरीर अक्षय शक्तियों का केन्द्र है। साधक इन्हीं अन्तर्निहित शक्तियों का विकास कर परमशक्ति की प्राप्ति कर सकता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि जो कुछ 'ब्रह्माण्ड' में है, वह सब पिण्ड में भी है। संयम और तप के माध्यम से योगी पिण्ड (शरीर) में निहित शक्तियों का विकास कर, आनन्दावस्था या ईश्वरीय सुख की प्राप्ति कर सकता है। योग सिद्धान्त के अनुसार यह सहजावस्था, कुण्डलिनी साधना के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य के शरीर में विविध शक्ति-चक्रों का निवास है। नाभि के पास स्थित कुण्डलिनी को साधना द्वारा जागृत कर योगी, उससे सभी चक्रों का भेदन कराता हुआ, सहस्रार चक्र (कविलास, या शिवपुरी) तक ले जाता है, वहाँ पहुँचते ही सहजावस्था की प्राप्ति हो जाती है। पद्मावत में जायसी भी इस साधना पर

ही अधिक बल देते हैं। कवि स्वयं ही इस कथा के प्रतीकों को उद्घाटित करता हुआ कहता है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।

यह शरीर ही चित्तौरगढ़ है जिसमें मन रूपी रत्नसेन निवास करता है, हृदय रूपी सिंहलद्वीप में निवास करनेवाली, बुद्धि (परम ज्योति) रूपी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये वह विविध प्रयास करता है। कवि अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहता है—

"गढ़ तस बाँक, जैस तोरी काया।"

यहाँ वह गढ़ को शरीर रूप में मानकर योगियों का चक्रभेदन क्रिया को ही स्पष्ट करता है। सिंहलगढ़ के वर्णन में तो स्पष्ट ही काया-साधना का वर्णन है। शरीर रूपी गढ़ में नौ इन्द्रियाँ ही नौ पौरियाँ हैं, पंचप्राण ही इसकी रक्षा करने वाले पाँच कोतवाल हैं, ब्रह्मरंध्र ही दसवाँ द्वार है, सुषुम्नानाड़ी ही गढ़ की गुप्त सुरंग हैं, मूलाधारचक्र ही अगाधकुंड है। सुषुम्ना मार्ग से इस चक्र को भेदता जो चींटी की चाल से दसवें द्वार तक पहुँचने का प्रयास करता है उसे ही पद्मावती रूपी सुन्दरी के सहवास का सुख प्राप्त हो सकता है। रत्नसेन साधक योगी के वेश में इन सभी को पार करने के बाद ही पद्मावती के मिलन सुख (परमसुख) का अनुभव कर पाता है। जायसी ने इस गढ़ के सुदुर्गम स्थान तक पहुँचने के लिए कुछ साधन बताये, ये साधन आध्यात्मिक यात्रा के लिए निर्देशित सूफी साधना पद्धति के चार सोपान हैं। जायसी कहते हैं—

नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
चारि बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार॥

यहाँ जायसी भारतीय योग सिद्धान्त के साथ सूफी साधना पद्धतियों का समन्वय उपस्थित करते हैं। सूफी साधना की चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) **शरीयत**—विधि और निषेधों का पालन।
(२) **तरीकत**—हृदय को शुद्ध कर ईश्वर का ध्यान।
(३) **हकीक़त**—वास्तविक सत्य का ज्ञान।
(४) **मारिफत**—प्रेममयी सिद्धावस्था।

इन चार अवस्थाओं के बीच सूफी साधना की सप्तभूमियों को भी मिश्रित कर दिया गया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) इश्क (प्रेम), (२) जहद (स्वेच्छा से दैन्य की स्वीकृति), (३) म्वारिफ (स्वरूपचिन्तन), (४) वज्द (उन्माद का भाव), (५) हक़ीक (सत्य की झलक), (३) वस्ल (मिलन), (७) फना (अहंभाव का विनाश)। सूफी साधना की ये सप्तभूमियाँ रत्नसेन के योगाचरण में स्पष्ट ही परिलक्षित की जा सकती हैं। परन्तु ये सभी स्थितियाँ हठयोग सिद्धान्त में देखी जा सकती हैं। रत्नसेन रूपी साधक परम्ज्योति के प्रेम में बँधकर स्वेच्छा से योगी वेश धारण करता है और उन्मत्त सा होकर प्रिय के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ सिंहल पहुँचता है। वहाँ उसे प्रिय (सत्य) को झलक मिलती है, वह उससे मिलन के लिए छटपटाता है और अन्ततः मिलन होने पर स्वयं को तल्लीन कर देता है। इस स्थिति में आत्मा परमात्मामय और परमात्मा आत्मामय हो उठती है। जायसी ने इसी को योग की शब्दावली में रत्नसेन का सूर्य तथा पद्मावती का चन्द्र हो जाना कहा है। मिलन के पहले पद्मावती सूर्य थी और रत्नसेन चन्द्रमा था। परन्तु मिलन होते ही दोनों एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो गये। रत्नसेन जब अपने रूप को छोड़कर प्रकृति स्वरूपा स्त्री के रूप में समा गया तो उसका नया जन्म हुआ, वह अमर हो गया; मृत्यु का उस पर अधिकार ही नहीं रहा—

तुम ओहि के घट, वह तुम माहाँ।
काल कहाँ पावै, वह छाहाँ॥
+ + + +

अस वह जोगी अमर भा, परकाया परवेस।
आवै काल गुरुहिं तहँ, देखि सो करै अदेश॥

इस प्रकार पद्मावत की समस्त साधना पद्धति भारतीय योगसिद्धान्त के अनुरूप होने के साथ ही सूफी साधना पद्धति का भी समाहार करती चलती है। रत्नसेन की योगसाधना में भारतीय योगसाधना के लगभग सभी प्रतीकों का किसी न किसी रूप में प्रवेश हो गया है। पद्मावती के निवास-स्थान सिंहल

गढ़ का वर्णन तो निश्चित ही योगियों के सहस्रार, शून्य स्थान या शिवपुरी तथा शक्ति-निवास आदि का प्रतीक है। शिव का रत्नसेन को, सिंहलगढ़ भेदन का उपाय बताना तो और भी स्पष्ट कर देता है कि कवि पग-पग पर भारतीय योग सिद्धान्तों का सहारा लेकर चल रहा है। कई स्थानों पर कवि परमज्योति को प्राप्त करने के लिए सिर के बल (उल्टा) चढ़कर जाने की बात करता है। भारतीय हठयोग सिद्धान्त में भी यही उल्टा मार्ग अपनाया गया है। योगी अपने मन की निम्नगामी गति को उलटकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाता है। उसका यही कार्य हठयोगान्तर्गत, चक्रभेदन-क्रिया कहलाता है। रत्नसेन की सारी साधना यही उल्टी साधना है। वह योगी वेश में विविध सांसारिक बाधाओं (सातसमुद्रादि) को पार करता हुआ, पद्मावती की ओर एकचित्त होकर बढ़ता चला जाता है और अन्त में अपनी सफल साधना के बल पर परमज्योतिस्वरूपा पद्मावती की प्राप्ति कर आनन्द विभोर हो उठता है, वह कालजयी हो जाता है। परमज्योति के सहवास में उसे जरा और मृत्यु जैसी बाधाओं की चिन्ता नहीं रहती। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि पद्मावत का पूर्वार्द्ध भारतीय योग-सिद्धान्तों के अनुरूप निर्मित है, जिसमें कहीं-कहीं सूफी साधना पद्धतियों का भी विवेचन किया गया है, परन्तु इनका भी समाहार भारतीय योगसिद्धान्त की विविधात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जा सकता है। भारतीय योगियों की भाँति जायसी की साधना भी रहस्यात्मक स्तर पर पहुँची हुई साधना है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जायसी ने योग के रूक्ष सिद्धान्तों को एक सुन्दर प्रेमकथा के आवरण में लपेटकर उपस्थित किया है, जिससे उनकी प्रभावात्मकता और भी बढ़ गयी है।

——— —

१४

जायसी का रहस्यवाद

रहस्यवाद विश्व की सर्वव्यापी भावना है। मनुष्य अपनी उत्पत्ति के काल से ही प्राकृतिक चमत्कारों के पीछे एक अव्यक्त सत्ता का आभास पाता आया है। इस सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह तरह-तरह की अनुभूतियों तथा विविध तर्कों का सहारा लेता आया है; परन्तु इस सत्ता को खोज में निकली हुई उसकी बुद्धि बार-बार हार थककर लौट आयी है। संसार की कोई भी वस्तु तुलना में आकर उसका रूप स्पष्ट न कर सकी और उसे 'नेति-नेति' का सहारा लेकर इस सत्ता की व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ी। बौद्धिक तर्कों से उसका ज्ञान न कर पाने के कारण मानव-हृदय ने अनुभूतियों के सहारे उस अदृश्य सत्ता से तादात्म्य स्थापित किया। इस स्थिति में उसकी आत्मा अव्यक्त शक्ति (परमात्मा) से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उससे पूर्ण ऐक्य का अनुभव करती है। मानव-हृदय द्वन्द्वातीत होकर अद्वैतता की ओर उन्मुख होने लगता है। हृदय की यही स्थिति रहस्यवाद कही जा सकती है। इसे ही 'हृदय का धर्म या एक प्रकार का मानसिक वातावरण' भी कहा गया है। आचार्य शुक्ल इसे 'अद्वैतता का आधार लेकर उठने वाली भावना' कहते हैं। डा० रामकुमार वर्मा इसे 'आत्मा और परमात्मा का निश्छल सम्बन्ध' कहते हैं। इस प्रकार रहस्यवाद मानव-हृदय की उस परिवर्तित दशा का द्योतक शब्द है, जब वह अन्य सभी बातों को भुलाकर एकचित्त होकर उस अव्यक्त सत्ता के ही मनन में लग जाता है। इसे आत्मस्थता की स्थिति भी कहा जा सकता है। इस स्थिति में मानव हृदय उस अव्यक्त सत्ता की अनुभूति मात्र से आत्मविभोर हो जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद दार्शनिक तर्कों से परे, स्वसंवेद्य अनु-

भूति है। इसीलिए इसे व्यक्तिगत आत्मानुभूति भी कहा गया है। इस अनुभूति की अवस्था में हृदय दार्शनिक मतमतान्तरों तथा साम्प्रदायिक भावनाओं से परे जागतिक हितों को ध्यान में न रखते हुए, अपने स्व को उस अव्यक्त सत्ता में विलीन कर देना चाहता है। अतः रहस्यवाद को एक प्रकार की सहजावस्था कहा जा सकता है जिसमें व्यक्ति का मन संकल्प विकल्पों में न खोकर तन्मय हो जाना चाहता है। रहस्यवाद एक व्यक्तिगत सत्य है इसे दार्शनिक सत्य के रूप में देखना इसकी अनुभूतिमयी सौन्दर्य श्री को नष्ट करना है। इन्हीं सब बातों के कारण दुनिया के किसी भी कोने में किया गया रहस्यवादी चिन्तन एक समान होता है।

रहस्यवादी साधना की विभिन्न स्थितियाँ—

रहस्यवाद के स्तर तक पहुँचने के लिए साधक को या मन को कई स्थितियों से गुजरना पड़ता है। इन स्थितियों को रहस्यवादी साधना तक पहुँचने का आवश्यक मार्ग भी कहा जा सकता है। वे स्थितियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) **जागरण की स्थिति**—इस स्थिति में साधक का हृदय जागतिक बाधाओं से पृथक होकर अपनी आत्मा के शुद्ध और चैतन्य रूप को पहिचानने का प्रयास करता है। आत्मा के मूल (परमात्मा) का ज्ञान प्राप्त कर वह उससे अपनी आत्मा का मेल कराने के लिए तड़पता है। उसका यह मिलन तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक कि वह भौतिक मलों का परित्याग कर, शुद्ध न हो जाय। इसके लिए उसे आत्मपरिष्करण की आवश्यकता पड़ती है। यही दूसरी स्थिति है।

(२) **परिष्करण**—आत्म-परिष्कार के लिए साधक को अनेकों प्रकार के विधि निषेधों का पालन करना पड़ता है। सूफी साधना के अन्तर्गत आत्म-परिष्करण के लिए निर्धारित नियम व विधान ये हैं "तौबा (अनुताप), खौफ (ईश्वर का भय), तवक्कुल (ईश्वर का विश्वास), फकर (दैन्य), सब्र (धैर्य), रजा (शान्ति), रिजा (आशा), शुक्र (अनुग्रह), जिक्र (ईश-स्मरण) मुराकबत (ध्यान), शरीअत (विधि-निषेधों का पालन), तरीकत (विशुद्ध मन से भगवान का ध्यान) ये सभी आत्म परिष्कार्थ निर्धारित विधियाँ हैं, इनका पालन करने वाला व्यक्ति ही अपने में प्रकाश की अनुभूति करता है, यही तीसरी स्थिति है।

(३) **प्रकाशानुभूति**—आत्मपरिष्कार की अवस्था से निकलने पर मन उस अव्यक्त सत्ता का आंशिक अनुभव करने लगता है। परन्तु इसी स्थिति में उसे

विचलित करने वाले अनेकों विघ्न सामने आते हैं, इन विघ्नों का डटकर सामना करना ही चौथी स्थिति है।

(४) **विघ्नों की रात** इस स्थिति में साधक को भाँति-भाँति के संघर्षों का सामना करना पड़ता है। एक प्रकार से इसे साधक की परीक्षा की स्थिति कहा जा सकता है। इसको पार कर लेने के बाद ही साधक पूर्ण ऐक्य की अन्तिम स्थिति तक पहुँच पाता है।

(५) **पूर्ण ऐक्य**—इस स्थिति में साधक और साध्य दोनों मिल जाते हैं। यही स्थिति रहस्यवाद की चरमस्थिति है।

रहस्यवाद की ये सभी स्थितियाँ पद्मावत की कथा में निरूपित की जा सकती है। हीरामन तोते द्वारा पद्मावती के अभूतपूर्व सौन्दर्य-वर्णन को सुनकर रत्नसेन रूपी मन का संसार से विरक्त हो जाना 'जागरण' की अवस्था कही जा सकती है। उसका योगी वेश में सात समुद्रों का पार करना तथा तरह-तरह की कठिनाइयों को सहन करना 'परिष्कार' की अवस्था कही जा सकती है। शिवमण्डप में 'पद्मावती' की प्रथम झलक 'प्रकाशानुभूति' की अवस्था कही जा सकती है। गन्धर्वसेन द्वारा रत्नसेन को पकड़वाकर उसे शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा देना 'विघ्न की रात' कही जा सकती है। अन्त में पद्मावती से मिलन तादात्म्य की अवस्था कही जा सकती है। इस प्रकार सूफियों की रहस्यवादी प्रेमसाधना की लगभग सभी स्थितियाँ पद्मावत की कथा में सरलता-पूर्वक आरोपित की जा सकती हैं। परन्तु जायसी ने इन्हें जान-बूझकर रखा या ये स्वतः ही आ गयीं इसके बारे में कुछ भी कह पाना असम्भव सा है। परमात्मा के प्रेम में डूबे हुए जायसी पग-पग पर अपनी रहस्यवादी भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते चलते हैं।

मर्मज्ञ विद्वानों ने रहस्यवाद के चार प्रमुख प्रकारों का निर्देश किया है—(१) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद (२) प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद (३) सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद (४) भक्ति सम्बन्धी रहस्यवाद। पद्मावत में रहस्यवाद के ये सभी रूप प्राप्त होते हैं।

(१) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद की अभिव्यक्ति उन स्थलों पर हुई है, जहाँ जायसी प्रकृति के कण-कण में उस परमसौन्दर्यमयी सत्ता का आभास पाते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा रत्नादि के प्रकाश में उन्हें परमात्मा का प्रकाश दिखायी देता है—

रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी ॥

जायसी की दृष्टि में प्रकृति की सभी शक्तियाँ उसी परम सत्ता से मिलने के लिए छटपटा रही हैं—

चाँद सूरज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सबाई ॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइं रहा ॥
पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ आइ भुइ चूआ ॥

(२) प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद के अन्तर्गत जायसी ने सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्यमय परमात्मा के अनुराग में रंजित देखा है—

सूरज बूड़ि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसन्त राती बनसपती। औ राते सब जोगी-जती ॥

संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो परमात्मा के प्रेम-बान से बिद्ध न हो—

उन बानन्ह अस को जो न मरा। बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने ॥

(३) सौन्दर्य संबंधी रहस्यवाद के अन्तर्गत जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य-वर्णन के माध्यम से उस विराटसत्ता के ही सौन्दर्य का चित्रण किया है, जो सृष्टि के प्रत्येक तत्व की आकर्षणकेन्द्रभूत है। पद्मावत के नख-शिख-वर्णन में एक प्रकार से परमसौन्दर्य धारिणी विराट सत्ता के सौन्दर्य की भी व्यंजना है। इसी कारण कवि प्रकृति के सुन्दर उपादानों की उपमान रूप में कल्पना भी करता है। एक स्थल द्रष्टव्य है —

भै उनंत पदमावति वारी। रचि-रचि विधि सब कला सँवारी ॥
जग बेधा तेहि अंग सुबासा। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा ॥
बेनी नाग मलयगिरि पैठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी ॥
भौंह धनुक साधे सर फेरै। नयन कुरंग भूलि जनु हेरै ॥

(४) भक्ति संबंधी रहस्यवाद को भी पद्मावत में यत्र-तत्र परिलक्षित किया जा सकता है जैसे—

का रानी का चेरी कोई। जा कहँ मया करहुँ भलि सोई ॥

परन्तु ऐसे स्थल संख्या में कम ही हैं, क्योंकि जायसी तात्विक भक्ति में

उतना विश्वास नहीं करते जितना प्रेमगद्गद भावना में। इसी कारण उन्होंने प्रेमास्पद की खोज की, पतितोद्धारक की नहीं।

रहस्यवाद की इन कोटियों के अतिरिक्त जायसी ने दार्शनिक एवं साधनात्मक रहस्यवाद की भी अतीव सुन्दर व्यंजना करायी है। कभी-कभी वे एक दार्शनिक की मुद्रा में कह उठते हैं —

अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों सब ओहि सो बरता॥
परगट गुपुत सो सरब बियापी। धरमी चीन्ह-चीन्ह नहिं पापी॥

भारतीय हठयोग सिद्धांत की चर्चा के बीच उन्होंने साधनात्मक रहस्यवाद की भी व्यंजना करायी है। रत्नसेन का पद्मावती की प्राप्ति के लिये किया गया सारा प्रयत्न, हठयोग सिद्धातों की व्यंजना कराने में अत्यन्त सफल है। रत्नसेन के समस्त जागतिक क्रिया-कलाप एक व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व और आत्मा और परमात्मा के मिलन के बीच के क्रियाकलाप हैं। रत्नसेन की सिंहल यात्रा, जीवात्मा की परमात्मा के पास पहुँचने तक की यात्रा है। समस्त कथा योग-सिद्धान्तों के अनुरुप काया-साधना की ओर संकेत करती प्रतीत होती है, और यह सारा प्रयास उस अलख निरंजन परमज्योति की प्राप्ति के लिए है। इस प्रकार जायसी ने साधनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति भी बहुत अच्छे ढंग से की है।

रहस्यवाद का आवश्यक तत्व अगोचर परमतत्व की प्राप्ति के लिए, आत्मा की गद्गद भावना है। जायसी ने इस भावना को प्रेम के आवरण में लपेटकर और भी मधुर बना दिया है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा की अदृश्य आकर्षण विकर्षण वृत्ति को; रत्नसेन और पद्मावती के प्रेमाख्यान द्वारा प्रत्यक्ष तो किया ही, इसे सरल एवं सुबोध भी बना दिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परमात्मा की सत्ता को लेकर परम्परा में जितनी भी रहस्यवादी भावनाएँ व्यक्त की गयी थीं, जायसी ने लगभग सभी का व्यवहार किया। यही कारण है कि जायसी द्वारा रचित लौकिक-प्रेमकथा, अलौकिकता की अभूतपूर्व व्यंजना से युक्त हो गयी है और पग-पग पर अदृश्य सत्ता के आभास को अभिव्यक्ति देने वाले जायसी, हिन्दी के उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि कहे गये हैं।

१५

पद्मावत की भाव-व्यंजना

भाव कविता का प्राण है। काव्य में भावों का जितना ही विशद चित्रण होगा उतना ही काव्य महत्वपूर्ण होगा। महाकाव्यों में समाज को बहुत विस्तृत परिवेश में देखा जाता है। समाज की अनुभूतियों का प्रकाशन कवि मार्मिक भाव व्यंजनाओं के माध्यम से करता है। विविध प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद ये ही भाव विशद होकर काव्य-रस का रूप धारण कर लेते हैं। रस को भारतीय काव्यों की आत्मा माना गया है। मानव जीवन को समग्रता में ग्रहण कर कवि उसके मनोभाओं का सूक्ष्मतम अंकन करने का प्रयास करता है। रति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि कितने ही मनोभाव मानव जोवन में प्रमुख स्थान रखते हैं। इन्हीं भावों का चित्रण काव्य में रसों के रूप में होता है।

पद्मावत का रस चित्रण—

पद्मावत एक प्रबन्धकाव्य होते हुए भी मानव जीवन की समग्रता को स्वीकार करके चलने वाला काव्य नहीं है, यही कारण है कि इसमें मानव जीवन की सभी अनुभूतियों को स्थान नहीं मिला। पूरा काव्य 'रति-भावना' पर आधारित है। इस महाकाव्य में प्रेम या शृंगार को ही विशेष महत्व दिया गया है। अन्य भाव आये भी हैं तो प्रासंगिक रूप में उनका कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वे सभी किसी न किसी रूप में शृंगार या रति भावना के ही पोषक हैं। शृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का चित्रण ही समस्त काव्य में प्रधान है। एक बात यहाँ स्पष्ट रूप से कह देने की है—यद्यपि जायसी ने अपने पूरे काव्य में शृंगार-चित्रण को ही महत्व दिया है, फिर भी उनका शृंगार-चित्रण भावों की विविधता और गूढ़ता से युक्त नहीं

है। इनका शृंगारचित्रण मादक चित्रों के अंकन तक ही सीमित है, उसमें सूक्ष्म मनोविकारों का चित्रण कम ही है। जायसी ने आलम्बन और आश्रय के उभरे चित्रों और उद्दीपन् की मनोहारी सामग्री के संयोजन में ही अपना काव्यत्व व्यय कर दिया है। आलम्बन या आश्रयगत अनुभावों, संचारियों तथा सात्विक भावों का अंकन नहीं के बराबर है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जायसी का शृंगार-चित्रण यद्यपि मार्मिक एवं प्रभावकारी है, फिर भी उसमें शास्त्रीयता का अभाव है। जायसी प्रेम के पट्ठगायक हैं, सम्भवतः उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र का अध्यन भी नहीं किया था, ऐसी स्थिति में उन्होंने बिना किसी बन्धन के अपनी प्रेमानूभूति को अभिव्यक्ति दी, शास्त्रीयता की उन्हें चिन्ता ही कहाँ थी। इतना सब होते हुए भी जायसी का शृंगार-चित्रण, हिन्दी काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

१) **संयोग-वर्णन—**

शृंगार के संयोग-पक्ष वर्णन में चार बातें प्रमुख रूप से चित्रित की जाती हैं - (१) आलम्बन का रूप-वर्णन (२) प्रकृति के उद्दीपक रूप का चित्रण (३) मिलन के विविध प्रसंगों की आयोजना तथा (४) आश्रय या आलम्बन की विविध अनुभावात्मक चेष्टाओं का वर्णन। इन सभी में जायसी ने पद्मावत में रूप-वर्णन को विशिष्ट स्थान दिया है। पूरे पद्मावत में अनेकों बार वे आलम्बन (पद्मावती) के रूप-वर्णन के प्रसंगों की आयोजना करते देखे जाते हैं। उनका रूप-वर्णन भी शिख-नख चित्रण मात्र है। जायसी रूप-वर्णन के प्रसंगों में आलम्बन के एक-एक अंग का चित्र प्रस्तुत करते देखे जाते हैं। काव्य में जहाँ उन्हें रूप चित्रण का अवसर मिला, वहीं वर्णनों की भरमार लगा दी। पद्मावती के रूप चित्रण का तो कवि ने जैसे ठेका ही ले रखा हो। पद्मावती के युवती होते ही वे उसका शिख-नख वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इसके बाद 'मानसरोद्रक—खण्ड' में पुनः वे उसके रूप का अतिशयोक्ति पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। रत्नसेन के पूछे जाने पर हीरामन तोते के माध्यम से वे फिर पद्मावती का रूप वर्णन प्रस्तुत करते हैं। सिंहलगढ़ में रत्नसेन और पद्मावती-मिलन के पूर्व वे पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त आलंकारिक ढंग से

से करते हैं। 'लक्ष्मी समुद्र खण्ड' में भी वे पद्मावती के 'क्लान्त सौन्दर्य' का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। नागमती-पद्मावती विवाद के बीच कवि स्वयं पद्मावती द्वारा ही उसके रूप का वर्णन करवाता है। इसके बाद अलाउद्दीन के समक्ष राघव चेतन विस्तार से पद्मावती का शिख-नख वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार पूरे काव्य में कवि को जहाँ भी अवसर मिला, वह पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने में नहीं थकता। इन स्थलों पर वह 'पद्मावती' के अंग-अंग का वर्णन प्रस्तुत करता है। केवल पद्मावती के ही सौन्दर्य के प्रति उसे यह ग्रन्थि नहीं है, काव्य में अन्य स्त्रियों—चाहे वे सिंहलगढ़ की वेश्याएँ हों, चाहे युद्ध में जाते हुए बादल की नवबधू हो—सभी वर्णनों में वह मनसावाचा-कर्मणा जुट जाता है। ये रूप-वर्णन प्रायः इतने विस्तृत हो गये हैं कि एक अलग खण्ड का ही रूप धारण कर लेते हैं, ऐसी स्थिति में ये अधिकांशतः उबाऊ हो गये हैं। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाओं के कारण इनकी स्वाभाविकता भी जाती रही है। इन वर्णनों की यही अस्वाभाविकता कहीं-कहीं अलौकिकता का रूप भी धारण कर लेती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जायसी का रूप वर्णन कुतूहलल का सृजन करने वाला भले ही हो, उसमें न तो स्वाभाविकता है और न ही प्रभावात्मकता। जायसी के सौन्दर्य-वर्णन की विवेचना करते हुए डा० गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं—"·········जहाँ भी उन्हें (जायसी को) अवसर मिला लम्बे-लम्बे वर्णन प्रस्तुत कर दिये। सुन्दरियों के रूप के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए भी, वे द्रष्टा के आहत हो जाने, मूर्छित हो जाने या प्राण त्याग देने की कल्पना बारम्बार करते हैं। फिर भी सौन्दर्य की व्यंजना उनके काव्य में वर्णन के रूप में ही अधिक होती है, चित्रण के रूप में कम। एक-एक अंग का अलग-अलग बिखरा हुआ सौन्दर्य किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं करता, उनकी अत्युक्तियाँ आश्चर्यजनक होते हुए भी पाठकों के हृदय को तरंगित करने में असमर्थ है और उनका विस्तृत वर्णन उबा देने वाला सिद्ध होता है। नारी की सूक्ष्म चेष्टाओं एवं मधुर भाव-भंगिमाओं का चित्रण भी उनके काव्य में बहुत कम हुआ है।" और इसका एकमात्र कारण कवि की 'एक पंथ दो काज' सिद्ध करने

की मनोवृत्ति रही होगी। नारी उसकी दृष्टि में जगत की अव्यक्त सत्ता की प्रतिरूप रही है। वह उसके मानवी रूप को न देखकर दैवी रूप के चित्रण में ही दत्त-चित्त रहा। जायसी का सारा सौन्दर्य-चित्रण सोद्देश्य रहा। उनकी कथा रत्नसेन और पद्मावती की प्रेमकथा से कहीं अधिक आत्मा और परमात्मा के मिलन की कथा है। इसी कारण जायसी नारी हृदय की लोकसामान्य अनुभूतियों, उसकी मनमोहक चेष्टाओं तथा उसके कोमल हृदय का चित्र न प्रस्तुत कर उसके चामत्कारिक एवं अलौकिक तथा प्रभावकारी रूप का ही वर्णन करने में दत्तचित्त रहे।

(२) **प्रकृति के उद्दीपक रूप का चित्रण—**

जायसी ने शृंगार के संयोग पक्ष को प्रभावकारी बनाने के लिये ही 'षड्-ऋतु वर्णन' प्रसङ्ग की आयोजना की है। परन्तु ऋतुओं के ये चित्र नायक-नायिका के आपसी मिलन एवं सुखोपभोग का लेखा-जोखा मात्र प्रस्तुत करते हैं। इन वर्णनों में उद्दीपकता कवि अरोपित भले ही हो स्वभाविक नहीं। परन्तु इतना सब होते हुए भी जायसी के प्रकृति वर्णन बाह्यप्रकृति के साथ मानवात्मा का सम्बन्ध स्थापित कराने में अत्यन्त सफल हैं। पावस ऋतु का वर्णन द्रष्टव्य है—

> रितु पावस बरसै पिउ पावा। सावन भादों अधिक सुहावा॥
> कोकिल बैन पाँत बग छूटी। धनि निसरी जनु बीर बहूटी॥
> चमक बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
> रँगराती पीतम सँग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥
> सीतल बुंद ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा॥

पद्मावत का समस्त 'षड्ऋतु वर्णन' संयोग रति को प्रगाढ़ करने के लिए किया गया है। पद्मावती और रत्नसेन के उन्मुक्त भोग में ऋतुएँ भी सहायिका बन कर आयी हैं। जायसी का प्रकृति-चित्रण संयोग में तो उद्दीपक है ही इससे

भी कहीं अधिक प्रभावशाली वियोग के प्रसंगों में हो गया है। इस स्थिति में वियोग के विस्तार के अनुकूल ही कवि ने बारहमासे का चित्र प्रस्तुत किया है। इसका विस्तृत विवेचन वियोग वर्णन के सन्दर्भ में आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

(३) मिलन के प्रसंगों की आयोजना—

पद्मावत का कवि 'प्रेम की पीर' का उपासक है। फलतः उसके काव्य में विरह के प्रसंगों की भरमार है। मिलन के प्रसंगों की आयोजना केवल तीन बार हुई है—(१) पद्मावती रत्नसेन का सिंहलगढ़ में मिलन, रत्नसेन नागमती-मिलन (३) अलाउद्दीन की कैद से छूटने के बाद रत्नसेन और पद्मावती का मिलन।

पद्मावत का प्रथम मिलन प्रसंग अत्यन्त विस्तृत एवं शृंगार की सीमा का अतिक्रमण करने वाला है। संयोग शृंगारगत संभोग का जितना मांसल और उभरा हुआ चित्र जायसी ने खींचा है हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं खींच सका। यहाँ आया हुआ आलम्बन के सौन्दर्य का सीमा का अतिक्रमण करता हुआ वर्णन, नवोढ़ा नायिका की मिलन के पूर्व की सहज आशंका एवं झिझक, नायक-नायिका की आपसी नोक-झोंक एवं हास-परिहास, नायक द्वारा नायिका को रत्यनुकूल बनाने की चेष्टा तथा अन्त में अभिसार, सभी कुछ अत्यन्त मादक और साहित्य के अध्येताओं को चकित कर देने वाला है। जायसी का रतियुद्ध वर्णन द्रष्टव्य है।

भएउ जूझ जस रावन रामा। सेज बिधाँसि विरह संग्रामा ॥
लीन्हि लंक, कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मैमंत बिधंसा। विचला बिरह जीउलै नंसा ॥
टूटे अंग-अंग सब भेसा। छूटी माँग भंग भए केसा ॥
कंचुकि चूर-चूर भइतानी। टूटे हार मोति छहरानी ॥
बारी टाँड़ सलोनी टूटी। बाहू कंगन कलाई फूटी ॥
चंदन अंग छूट अस भेटी। बेसरि टूट, तिलक गा मेटी ॥

पुहुप सिंगार सवाँर सब जोबन नवल बसन्त।
अरगज जिमि हिय लाइकै मरगज कीन्हेउ कंत ॥

इस प्रकार पद्मावत का संभोग वर्णन अत्यन्त उद्दाम और उल्लसित है। इस स्थल पर पहुँचा हुआ कवि अपनी सारी दार्शनिकता ताख पर रखकर एक स्त्री और पुरुष की रतिजन्य चेष्टाओं का उन्मुक्त चित्रण प्रस्तुत करता है। पद्मावती और रत्नसेन के इस रति-युद्ध की गहनता की तुलना में केवल उसे राम और रावण-युद्ध ही दिखायी पड़ा, रतिक्रिया का इतना स्थूल और उभरा हुआ चित्र रीतिकालीन दरबारी कवि भी न प्रस्तुत कर सके, यदि जायसी अपने कुछ पूर्वाग्रहों के कारण रसायन और योग सम्प्रदाओं की बातों का विवरण बीच में न ले आते तो निश्चित ही यह संभोग वर्णन अपने आप में विशुद्ध, अति उद्दाम, उल्लसित एवं बेजोड़ होता।

पद्मावत का दूसरा मिलन प्रसंग रत्नसेन और नागमती के मिलन का है। यहाँ स्वकीया द्वारा किये गये मान और उसका नायक के द्वारा किये गये भंग का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। यह मिलन प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त है। सिंहल से लौटे हुए रत्नसेन द्वारा सम्मान पाकर नागमती रूपी दग्धनागबेलि पुनः हरी-भरी हो उठी।

पद्मावत का तीसरा मिलन प्रसंग भी संक्षिप्त ही है, अलाउद्दीन की कैद से छूटकर आये हुए रत्नसेन को पाकर पद्मावती और उसकी सहेलियाँ उल्लसित हो उठीं। यहाँ कवि उभयपक्ष में रति का चित्रण प्रस्तुत करता है। रत्नसेन पद्मावती के समक्ष अपनी दुःख-गाथा सुनाकर उसके मन में सहानुभूति उत्पन्न करना चाहता है। पद्मावती भी अपनी वियोग व्यथा का दारुण चित्र उपस्थित करती है। इसी बीच वह देवपाल-दूती प्रसंग को भी छेड़ देती है और कथा का रुख ही दूसरी ओर हो जाता है।

ऊपर के उल्लेखों को ध्यान में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि पद्मावत विरह की अनुभूतियों का काव्य होते हुए भी मिलन के प्रसंगों से अछूता नहीं है। इसका एक ही मिलन प्रसंग (रत्नसेन पद्मावती मिलन प्रसंग) सौ प्रसंगों से भी कहीं अधिक प्रभावकारी है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि

मिलन के मांसल एवं स्थूल तथा अत्यन्त उभरे हुए चित्रण में, पूरे हिन्दी साहित्य में जायसी बेजोड़ हैं।

(४) **अनुभावों का चित्रण—**

जायसी स्थूल रूप वर्णनों और रति चित्रों में ही खोये रहे। भाव-बोध कराने वाले अनुभावों के चित्रण में वे असफल ही रहे। 'रति' भाव का बोध कराते समय उन्होंने कुछ संचारियों जैसे 'संकोच', 'संत्रास', 'शंका' आदि का सहारा भले ही लिया हो, पर रतिभाव को पुष्ट कराने वाले अनुभावों जैसे नायक-नायिका का पारस्परिक अवलोकन, भ्रू भंग, रोमांच, आलिंगन आदि का चित्र वे नहीं प्रस्तुत कर सके। इसी प्रकार सात्विक अनुभावों का भी चित्रण कहीं नहीं मिलता। अनुभावों के चित्रण के अभाव में ही जायसी का संयोग-वर्णन मार्मिक एवं व्यंजक न होकर, मात्र मादकता का संचार करने वाला बनकर रह गया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जायसी का उद्देश्य रस-चित्रण करना न हो कर, सम्प्रदायगत बातों का चित्रण रहा है। इसके अतिरिक्त वे 'प्रेम की पीर' (विरह) में विश्वास रखने वाले कवि हैं। उन्होंने जो संयोग चित्र प्रस्तुत भी किये हैं, उनके अन्तराल में 'विरह' की एक लम्बी पृष्ठभूमि है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने मानुषी कथा ग्रहण तो किया, पर उनकी दृष्टि निरन्तर अलौकिकता की ओर लगी रही। सौन्दर्य की जितनी विशद सार्वभौमिकता उन्होंने पद्मावती के व्यक्तित्व में भर दी थी, उसके गुरुतर भार से दब कर वह तरल भावनाओं की अभिव्यक्ति कर ही कैसे सकती थी। उसका सौंदर्य पूजा की वस्तु है, तरल प्रेमोन्माद की नहीं।

(५) **वियोग चित्रण—**

जायसी 'विरह' के अनन्य उपासक हैं। इसीलिए पद्मावत का वियोग-वर्णन संयोग-वर्णन से कहीं अधिक विशद एवं प्रभावकारी है। शास्त्रीय दृष्टि से पद्मावत में अयोग (पूर्वानुराग) और वियोग दोनों का विशद चित्रण हुआ है। रत्नसेन और पद्मावती का बिना एक दूसरे को देखे ही विरह की अनुभूति करना, अयोग या पूर्वानुराग कहा जायेगा। नागमती वियोग-वर्णन व रत्नसेन के बन्दी हो जाने के बाद पद्मावती या नागमती दोनों के विरह का वर्णन "विप्रलम्भ' या

'वियोग शृंगार' के अन्तर्गत आयेगा। पद्मावत का पूर्वानुराग वर्णन विशद होते हुए भी स्वाभाविक नहीं लगता। इसके दो कारण हैं—एक तो यह पूर्वानुरागजनित वियोग नायक में दिखाया गया है जो लगभग अभारतीय है, फारसी पद्धति पर तो यह ठीक कहा जा सकता है, परन्तु भारतीय प्रेम-चित्रण में नायिका के वर्णन की ही प्रधानता देखी गयी है। दूसरे 'वियोग' की सच्ची अनुभूति मिलन के बाद ही सम्भव होती है। मिलन के पूर्व का वियोग 'अभिलाषा' के अन्तर्गत आ जाता है, जो वियोग की एक दशा मात्र है। अब प्रश्न यह उठता है कि जायसी ने रत्नसेन के पूर्वानुराग का इतना विस्तृत वर्णन क्यों किया? इसका एक मात्र कारण यही है कि जायसी को अपने सम्प्रदाय के प्रति विशेष आग्रह रहा है। सच्ची प्रेम की पीर ही उनकी सैद्धान्तिक साधना की आधार थी। रत्नसेन को भी इसी 'प्रेम की पीर' को सहन करते हुए दिखाया गया है। पूर्वानुराग की दशा में रत्नसेन प्रेमी कम साधक ही अधिक रहता है। इसी प्रकार पद्मावती को भी रत्नसेन के प्रेम में छटपटाते हुए दिखाया गया है। यहाँ रत्नसेन की साधना का प्रभाव व्यंजित करना ही कवि का उद्देश्य रहा है। कवि स्पष्ट रूप से कह भी देता है—

पद्मावति तेहि जोग सँजोगा।
परी प्रेम बस गहे वियोगा॥

मिलन के बाद होने वाले वियोग का वर्णन कवि ने नागमती वियोग-वर्णन प्रसंग में किया है। यहाँ कवि अपनी सम्पूर्ण भावनाओं के साथ प्रोषितपतिका नायिका नागमती के वियोग का विशद चित्रण प्रस्तुत करता है। यहाँ कवि का परम वियोगी हृदय निश्छल होकर सामने आ जाता है और वह अपनी उक्ति—

'जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नयन जल भेई।'

को नागमती के आँसुओं के चित्रण में चरितार्थ करता है। रत्नसेन के योगी होकर चले जाने के बाद नागमती वियोग के अथाह सागर में गोते लगाती दिखायी पड़ती है। उसकी आँखों से बहने वाले आँसुओं से सारी सृष्टि भीगी हुई दिखायी पड़ती है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइलि रोई। रकत आँसु घुंघची बन बोई ।।
जहँ-जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी। तहँ-तहँ होइ घुँघुचि कै रासी ।।
बूँद-बूँद महँ जानहु जीऊ। गुंजा-गुंज करै पिउ पीऊ ।।
तेहि दुख भये परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते ।।
राते बिम्ब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ ।।
देखिअ जहाँ होइ सोइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता ।।

ना पावस ओहि देस रे ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, केहि सुनि आवहि कंत ।।

नागमती जिस ओर भी दृष्टिपात करती है, सभी उसे दग्ध ही दिखाई पड़ते हैं। उसकी इसी अवस्था के चित्रण में कवि बारहमासे की आयोजना करता है। साल के बारहों महीने, नागमती प्रिय के विरह में सिर धुनती है। वह इतनी हतभागिनी है कि कोई प्रिय तक उसका संदेश ले जाने वाला भी नहीं है। बारहमासे के चित्रण के बीच कवि ने नागमती का जो मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा सराहनीय है। कवि का यह बारहमासा अपनी अद्भुत वर्णन शैली, निष्कपट विरह निवेदना तथा हिन्दू दाम्पत्य जीवन के भव्य चित्रण के कारण अत्यन्त मार्मिक एवं पूरे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। मनुष्य सदैव से प्रकृति का सहचर रहा है। वह अनादिकाल से प्रकृति को अपनी भावनाओं की अनुगामिनी के रूप में देखता आया है। अपने सुख में वह उसे आनन्द प्रदान करने वाली तथा दुख में कष्ट पहुँचाने वाली वस्तु के रूप में देखता आया है। प्रकृति के वे ही उपादान जो सुख के समय उसे आनन्दित एवं उल्लसित करते हैं, दुःख के समय उसे शत्रु के रूप में दिखायी पड़ते हैं। नागमती की भी यही स्थिति है। रत्नसेन के रहने पर वर्ष के बारहों महीने उसे आनन्द देने वाले थे, परन्तु रत्नसेन के जाते ही ये ही बारहों महीने उसके लिए शत्रु बन गये। कवि इसी पृष्ठभूमि में नागमती की चित्तवृत्ति का विवेचन करते हुए, वर्ष के एक-एक महीने का चित्र प्रस्तुत करता है। प्रारम्भ वह आषाढ़ के महीने से करता है। आषाढ़ के महीने में बादल गड़गड़ाहट करते हुए आकाश में छा गये, ऐसा लग रहा है, जैसे विरह ने दल सजाकर सारी सृष्टि पर चढ़ाई कर

दी हो और उसकी दुन्दुभी बज रही हो। नागमती भयभीत है, कन्त घर नहीं हैं, मदन के आक्रमण से उसकी रक्षा कान करेगा। वह सोचती है—इस ऋतु में तो वही गौरवशाली और सुखी है – जिसके पति घर में है—

जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।
कंत पियारा बाहिरे, हम सुख भूला सर्ब।

सावन की मूसलाधार वर्षा, भादों की अँधेरी रात तथा क्वार के महीने का निर्मल स्वच्छ वातावरण सभी उसे पति के अभाव में कष्ट पहुँचाने वाले हैं। कार्तिक के महीने में 'चाँदनी रात' लोगों को शीतलता प्रदान करती है, परन्तु नागमती विरह से जल रही है, उसे सारा संसार ही जलता हुआ दिखायी पड़ता है—

कातिक सरदचंद उजियारी। जग सीतल हौ बिरहै जारी॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुँ जरे सब धरति अकासू॥

अगहन के महीने में रातें बड़ी होने लगीं। नागमती चिन्तित है, रात कैसे कटेगी। ठंड भी शुरू हो गयी। घर-घर लोगों ने शीत के वस्त्र निकाल लिये हैं, परन्तु नागमती का सारा शृङ्गार हो प्रिय के साथ चला गया। ठंड आग बनकर उसके हृदय को जला रही है। वह भ्रमर और काग को सम्बोधित कर प्रिय के पास संदेश ले जाने के लिए कहती है। संदेश में केवल इतना ही कहना है कि वह (नागमती) विरह में सुलग-सुलग कर भस्म हो गयी, हम दोनों (भ्रमर और काग) उसी के विरह धूम में काले रङ्ग के हो गये—

पिय से कहेउ संदेसरा, ऐ भौरा ऐ काग।
सो धनि बिरहै जरि गई तेहिक धुआँ हम लाग॥

कथन की ऊहात्मकता से युक्त होते हुए भी पद्मावत के ऐसे स्थल अपनी करुणापूर्ण द्रावकता और मार्मिक व्यंजना के लिये बेजोड़ हैं।

पूस का महीना लगते ही पसलियों को कँपा देने वाला जाड़ा पड़ने लगा। नागमती थर-थर काँपती है; पति के बिना उसे गर्म शैय्या भी हिमालय के समान ठण्डी लगती है। विरह रूपी बाज उस पर झपट्टा मारकर, खा जाने को तैयार है। वह अत्यन्त आर्त होकर कहती है—विरह में रक्त आँसू बनकर ढल

गया, हड्डियाँ सूखकर शंख हो गयीं। बाला सारस की जोड़ी के समान रटती हुई मर गयी, हे प्रिय ! अब आकर उसके पंख समेट लो—

रकत ढरा माँसू गरा, हाड़ भए सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, आइ समेंटहु पंख ।।

माघ के महीने की कँपा देने वाली ठंड में विरह और भी काल बन गया। फागुन में शीत चौगुना हो गया, हवा झकझोर कर बहती है। नागमती का शरीर पीले पत्ते की तरह हो गया है। विरह रूपी पवन अब इसे उड़ाकर ही रहेगा। वह कहती है, चारों तरफ फाग और चाँचर हो रही है, पर मै होली की तरह विरह में जल रही हूँ। अब तो यही अभिलाषा है कि इस शरीर को जला कर राख कर दूँ, और वायु से कहूँ कि वह इस राख को उड़ा ले जाये। शायद मैं उस मार्ग में जा पड़ूँ जहाँ प्रियतम कभी पाँव रखें—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकुतेहि मारग होइ परौं कंत धरैं जहं पाउँ ।।

इस स्थल पर एक पतिप्राणा भारतीय नारी की भावना द्रष्टव्य है।

चैत में चारों ओर बसन्त ऋतु का साम्राज्य है। चारों ओर खिले हुए सुन्दर फूल नागमती को काँटों के समान लगते हैं। कोयल का पिउ-पिउ शब्द उसे बाण के समान लग रहा है। इस प्रकार जब कि सारा संसार बसन्त को धमार से युक्त है, नागमती को चारों ओर उजाड़-सा लग रहा है। वैसाख का प्रचंड सूर्य अपने समस्त ताप के साथ नागमती को तापित करता है, वह तलैया के समान सूखती जा रही है। जेठ का महीना लगते ही ताप के बगूले उठते हैं। इस समय विरह नागमती पर उसी वेग से आक्रमण कर उसे जलाता है, जैसे हनुमान ने लंका जलायी थी। नागमती की दशा अत्यन्त सोचनीय है—

अधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ विरह काग होइ भूखा ।।
माँसु खाइ अब हाड़न लागा। अबहुँ आव आवत सुनि भागा ।।

जेठ और आषाढ़ के मध्यभाग में नागमती का शरीर सूखकर मूँज के समान हो गया है। उसका शरीर रूपी छप्पर जर्जरित हो गया है। उसे खड़ा करने के लिए थम्भ (पति) ही नहीं है। आँसुओं की अनवरत वर्षा से सारा घर टपक रहा है। नागमती पति से लौट आने की प्रार्थना करती है—

अबहूँ दिस्टि मया करि, छान्हिन तजु घर आउ ।
मंदिल उजार होत है, नव के आनि बसाउ ।।

इस प्रकार आँसू बहाते हुए नागमती पति के वियोग में बारहों महीने बिताती है । कवि उसकी विरह दशा का एक अत्यन्त करुण चित्र प्रस्तुत करता है—

रोइ गवाएउ बारहमासा । सहस सहस दुख एक एक साँसा ।।
तिलतिल बरिस बरिस बरु जाई । पहर-पहर जुग जुग न सिराई ।।
सो न आउ पिय रूप मुरारी । जासों पाव सोहाग सो नारी ।।
साँझ भए झुरि-झुरि पथ हेरा । कौन सो घरी करै पिउ फेरा ।।
दहि कोइला भइ कंत सनेहा । तोला माँस रहा नहि देहा ।।
रकत न रहा विरह तन गरा । रती-रती होइ नैनन्ह ढरा ।।
पाव लागि चेरी धनि हा हा । चूरा नेहु जोरु रे नाहा ।।

उसकी यह अवस्था उसे उन्मत्तता की स्थिति तक पहुचा देती है । वह प्रत्येक मनुष्य से रत्नसेन के बारे में पूछने के बाद पशु-पक्षियों से भी पूछना प्रारम्भ करती है , जायसी कहते हैं—

बरिस देवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झाँखि ।
मानुस घर-घर पूछि कै, पूछै निसरी पाँखि ।।

विरह व्यथा से व्याकुल नागमती जड़ और चेतन का ज्ञान भुलाकर जो मिलता है उससे ही रत्नसेन की खबर पाने का प्रयत्न करती है । दुःख के समय मानव हृदय अपनी संकीर्णता छोड़ अत्यन्त विशद हो जाता है । संसार की प्रत्येक वस्तु उस अपनी लगने लगता है । यहाँ तक कि पशु-पक्षियों को भी वह अपने सहायक रूप में देखने लगता है । इसो मनोदशा के बीच नागमती भ्रमर और काग से प्रिय तक संदेश ले जाने को कहती है । कोयल, हारिल, धौर, पंडुक सभी से वह अनुनय विनय करती है । परन्तु कोई पक्षी उसकी सहायता करे भी तो कैसे, वह जिसके भी पास सन्देश ले जाने के लिए कहने गयी, विरहाग्नि से वह स्वयं ही जल गया—

जेहि पंखी का अढ़वउँ कहि सो बिरह कै बात ।
सोई पंखी जाइ डहि, तरुवर होइ निपात ।।

अन्त में एक पक्षी को उस पर दया आ गई और वह उसका सन्देश ले जाने को तैयार हो गया ; सिंहलद्वीप में रत्नसेन के पास पहुँचकर वह नागमती के वियोग दुःख का एक प्रभावकारी चित्र प्रस्तुत करता है—

नागमती दुख बिरह अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा ॥
नगरकोट घर बाहिर सूना। नौजि होइ घर पुरुख बिहूना ॥
\+ \+ \+ \+
देखि बिरह दुख कातर। मैं सो तजा बनबास।
आएउँ भागि समुन्द तट, तबहुँ न छाँड़ै पास ॥

इस प्रकार जायसी का विरह वर्णन सभी दृष्टियों से पूर्ण और करुणापूर्ण द्रावकता का उद्भावक है। आचार्य शुक्ल विरह को प्रेम की सच्ची कसौटी मानते हुए लिखते हैं कि इसी अवस्था में मानवहृदय द्रवित होकर इतना व्यापक हो जाता है कि उसे जाने-अनजाने परिचित-अपरिचित सभी अपने प्रतीत होने लगते हैं, जीवन में जिनकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया था, उनसे भी सहायता प्राप्त करने के लिए हाथ आगे बढ़ जाते हैं—शुक्ल जी का यह कथन जायसी के विरह-चित्रण पर पूर्णतः चरितार्थ होता है। कालिदास ने भी'तो'मेघदूतम्' में यही बात कही थी–'कामार्ताहिप्रकृतिकृपणाश्चेतनाचनेतषु'—विरही व्यक्ति चेतन और अचेतन में भेद नहीं करपाता है। नागमती का विरह भी चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के प्राणियों को प्रभावित करता है। तभी तो आधी रात को नागमती के रुदन को सुनकर पक्षी उसकी दुःखगाथा रत्नसेन तक ले जाकर कहने को तैयार होता है।

मानवीय भावनाओं के अनुकूल प्रकृति का चित्रण तो पद्मावत की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। नागमती विरह-वर्णन के सन्दर्भ में चित्रित बारहमासा इसी भावना के अनुकूल है। वर्ष के प्रत्येक महीने में चित्रित नागमती की विरह-दशा पाठक को अभिभूत कर लेने के साथ ही उसके हृदय में करुणाधारा का भी प्रवाह करा देने में अत्यन्त समर्थ है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कवि ने अपनी वर्णन-पटुता एवं दृश्यों की व्यंजनापूर्ण आयोजना के आधार पर नागमती के व्यक्तिगत विरह-दुःख को सार्वभौमिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

जायसी का विरह-वर्णन स्वच्छन्दता का अनुसरण करने के साथ ही शास्त्रीय दृष्टिकोण रखने वाले मर्मज्ञ विद्वानों को भी संतुष्टि प्रदान करने वाला है। इसमें लगभग विरह की सभी दशाओं का चित्रण हुआ है। विरह की दस मनोदशाएँ—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता आदि सभी चित्रित देखी जा सकती हैं। मानवीय भावनाओं की पृष्ठिभूमि में किया गया प्रकृति-चित्रण (बारहमासा) तो पूरे हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। जायसी के विरह-वर्णन की प्रशंसा करते हुए डा० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं—"इसी में वह प्रसिद्ध बारहमासा है, जिसमें प्रकृति और मानवीय जीवन कवि की गंभीर व्यापक संवेदना से रंजित होकर, एक स्तर पर दूसरे की अनुकृति रूप में चित्रित हुए हैं। इसमें कवि दुःख के नाना रूपों की उद्भावना कर सका है। सचमुच यह हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमें भारतीय नारी की मर्यादा सुरक्षित है। इसमें लोक-जीवन का स्पन्दन है। वही लोकजीवन जो मर कर भी इस विश्वास पर जीता है कि पुनः नवल वसंत सरसित होगा। धरा रससिक्त होगी। भौंरा कमल को छोड़कर मालती के पास लौट आयेगा और सूखी हुई बेलि लहलही हो उठेगी। यहीं जायसी भारत के सच्चे कवि के रूप में सामने आते हैं।"

इतना सब होते हुए भी कुछ आलोचकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जायसी का विरह-वर्णन फारसी पद्धति पर हुआ है। भारतीय वियोग-वर्णन के सन्दर्भ में रक्त और मांस की चर्चा कहीं भी नहीं आयी है। यह तो ठीक है कि विरह-वर्णन के सन्दर्भ में जायसी की कुछ उक्तियाँ—जैसे—'विरह सरागन्हि भूँजइ माँसू। चुइ-चुइ परै रकत कै आँसू", अवश्य फारसी, खूने जिगर, कातिल और खंजर आदि की याद दिलाती हैं, पर ऐसे कुछ ही स्थल हैं। अधिकांश विरह-वर्णन भारतीय पद्धति पर तथा भारतीय मान्यताओं के अनुरूप हुआ है। पद्मावत में विरह-वर्णन के दो प्रसंग हैं। नागमती-वियोग वर्णन प्रसंग में मध्ययुगीन भारतीय नारी की कातर पुकार सुनायी पड़ती है, जो सामन्तीय वातावरण में प्यार और दुलार की वस्तु न रहकर, खड्ग की चेरी बनकर पराधीनता एवं विवशता का जीवन बिता रही थी। सामन्ती दृष्टिकोण के आलोचकों को नागमती की चीख-पुकार भले ही खले, पर निष्पक्ष दृष्टिकोण से देखने पर यह स्वाभाविक सी लगती है। यह बात और है कि कवि ने उसके विरह को

मृत्यु के कगार तक पहुँचा दिया है। वह शृङ्गार का उद्भावक कम करुणा का उद्भावक अधिक हो गया है। वियोगवर्णन का दूसरा प्रसंग, रत्नसेन के बन्दी हो जाने के बाद पद्मावती और नागमती दोनों के वियोग दुःख का चित्रण है। यह वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त करुण हो गया है क्योंकि इसके अन्तराल में प्रिय के अनिष्ट की आशंका है। इस स्थल पर भी जायसी अपनी 'गाढ़ी प्रीति नयन जल भेई' की प्रतिज्ञा का पूर्णतः पालन करते हैं। यह प्रसंग तो पूर्णतया भारतीय, भावना से मण्डित है।

जायसी के विरह-वर्णन पर दूसरा आरोप ऊहात्मकता का है। इसके कितने ही कथन स्वाभाविकता का अतिक्रमण कर, अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों का सहारा लेते देखे जाते हैं। परन्तु इन ऊहात्मक कथनों से काव्य-सौन्दर्य और बढ़ा ही है, घटा नहीं। नागमती जैसी वियोगिनी बाला के दुःखों का वर्णन कवि यदि बढ़ा-चढ़ाकर करता है, तो उसका अभिप्राय वियोगानुभूति की तीव्रता का प्रदर्शन है। इसके अंतराल में भी फारसी प्रभाव परिलक्षित करना भारतीय काव्य-परम्परा से अज्ञान का प्रदर्शन करना ही कहलायेगा। जायसी पद्मावत के किसी भी कोने में फारसी पद्धति से प्रभावित नहीं कहे जा सकते। भारतीय लोकजीवन की जितनी मर्मान्तिक अनुभूतियाँ पद्मावत में मिलती हैं, हिन्दी साहित्य के अन्य किसी काव्य में दुर्लभप्राय हैं। जायसी भारतीयता के सच्चे उपासक थे। उनके काव्य का कोना-कोना भारतीय जीवन की अनुभूतियों से मण्डित है। इनका बारहमासा वर्णन पर तो 'संदेसरासक' जैसी अपभ्रंश काव्य-कृतियों का स्पष्ट प्रभाव है, इतना सब होते हुए भी जायसी को अभारतीय पद्धति का कवि कहना, स्वयं कवि और उसकी कविता के प्रति अन्याय करना होगा।

पद्मावत में अन्य रसों का चित्रण—

पद्मावत शृंगार रस को ही प्रमुखता देने वाला काव्य ग्रंथ है। रति-भाव की व्यंजना ही इसकी प्रमुख विषय वस्तु है, अन्य भावों की व्यंजना हुई भी है तो प्रासंगिक है। रत्नसेन के योगी होकर घर से निकलते समय 'शोक' की व्यंजना उसकी रानियों के रोने-चिल्लाने के माध्यम से की गयी है। परन्तु यहाँ भी प्रेरक भाव रति ही है।

'बादशाह चढ़ाई खण्ड', 'राजा बादशाह युद्ध खण्ड' तथा 'गोरा बादल युद्ध खण्ड' में 'युद्धोत्साह' की व्यंजना हुई है। परन्तु ये स्थल भी मूलभाव रति के

ही पोषक हैं। 'षड्ऋतुवर्णनखण्ड' में 'उत्साह और रति' दोनों भावों की मिश्रित व्यंजना करायी गयी है। रत्नसेन पद्मावती से कहता है—

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते में दोऊ ॥
उहा सामुहे रिपु दल माँहाँ। इहाँत काम कटक तुम्ह पाहाँ ॥
उहाँ त हय चढ़ि के दल मंडौ। इहाँ त अधर अमिय रस खंडौं ॥
उहाँ त खड़ग नरिंदहिं मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार संघारौं ॥
उहाँ त गज पेलहुँ होइ केहरि। इहाँ त कामकामिनी हिय हरि ॥
उहाँ त लूटौ कटक खंधारू। इहाँ त जीतहुँ तोर सिंगारू ॥
उहाँ त कुम्भस्थल गज नावौं। इहाँ त कुचकलसहि करि लावौं ॥

'क्रोध' भाव की व्यंजना 'राजागढ़ छेका खंड' और 'गोराबादल युद्ध खंड के अन्तर्गत हुई है। युद्ध के वर्णन के बीच ही 'जुगुप्सा' की भी व्यंजना हुई है। सात समुद्रों के वर्णन में 'भय' की व्यंजना हुई है। अन्त में 'रत्नसेन बैकुण्ठवास खण्ड' तथा 'नागमती पद्मावती सती खण्ड' में 'निर्वेद' की व्यंजना हुई है। परन्तु ये सभी भाव रति के सहायक ही होकर आये हैं। इनमें कोई भी स्वतन्त्र रूप से चित्रित नहीं किया गया।

काव्यों में रस चित्रण की दो परिपाटियाँ प्रचलित रही हैं। एक तो रस के सभी अवयवों-विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की शास्त्रीय योजना द्वारा रस की अभिव्यक्ति। दूसरी के अन्तर्गत कवि कथा की गति और परिस्थिति के आधार पर भावों की आयोजना करता है। पद्मावत के अंगभूत भावों का चित्र दूसरी परिपाटी पर हुआ है। जायसी रस-चित्रण की शास्त्रीय पद्धति के जानकार नहीं थे। वे एक स्वच्छंद वृत्ति के भावुक कवि थे। कथा के बीच परिस्थिति को देखते हुए उन्होंने विविध भावों को व्यंजना कराने का प्रयास किया है। इन भावों में कहीं-कहीं रसत्व स्वतः आ गया हो, यह बात अलग है। जायसी ने प्रयास करके रसों का चित्रण नहीं किया। पद्मावत के अंगीरस शृंगार की भी यही स्थिति है। इसमें अनुभावों के वर्णन की ओर कवि का ध्यान कम ही गया है, जहाँ कहीं, अनुभावों का चित्रण हुआ भी है वह 'घुणाक्षरन्यायेन' ही है। जब प्रमुख रस की यह स्थिति है, तो अन्य के बारे में कहना ही क्या। संक्षेप में, पद्मावत में भावों की सुन्दर व्यंजना तो हुई है, परन्तु इसमें कोई भी भाव कठिनाई से ही रसत्व तक पहुँचता है और फिर, कवि को भी रस-चित्रण का आग्रह नहीं है। स्वच्छंद भावों की व्यंजना ही उसका एकमात्र उद्देश्य है।

१६

पद्मावत का कला-पक्ष

भमवपक्ष के साथ ही पद्मावत का कला-पक्ष भी अत्यन्त पुष्ट है। इसका भाषा वैशिष्ट्य, अलंकार-प्रयोग, वस्तु-वर्णन, सादृश्य दर्शन के लिए लोकोक्तियों और मुहाबिरों का प्रयोग, सभी महाकाव्योचित है। पद्मावत का कवि अभिव्यंजना के इन तत्वों को सायास प्रयुक्त करता नहीं दिखायी देता। कथा-प्रवाह के बीच में सभी तत्व अनायास ही स्थान पाते चलते हैं। इन तत्वों में प्रत्येक पर अलग-अलग विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

(१) **अलकार-प्रयोग**—

अलंकारों को काव्यात्मारस का शोभाधायक अंग कहा गया है। पद्मावत के अलंकार प्रयोग भो इसके काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने में बहुत अधिक सहायक है। इसमें सादृश्यमूलक और विरोधमूलक दोनों ही प्रकार के अर्थालङ्कारों का प्रयोग विशिष्टता के साथ हुआ है। शब्दालङ्कारों में श्लेष का प्रयोग तो अत्यन्त प्रभावकारी है। पद्मावत के अलंकार प्रयोगों की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(क) प्रस्तुत के समानान्तर अप्रस्तुत विधान—

ऐसे स्थलों पर कवि ने सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों, उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लिया है। कवि पहले प्रस्तुत का कथन कर बाद में सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुतों की आयोजना करता है। एक ही प्रस्तुत के लिए वह कई अप्रस्तुतों की आयोजना कर काव्य-सौन्दर्य को और भी बढ़ा देता है। उदाहरण के लिए, पद्मावत का वह स्थल द्रष्टव्य है जहाँ कवि ने पद्मावती की सिन्दूर रहित माँग का वर्णन किया है—

बरनौं माँग सीस उपराहीं। प्रस्तुत
सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं ॥
बिनु सेंदुर अस जानहु दिया।
उजियर पंथ रैनि महँ किया ॥
कंचन रेख कसौटी कसी।
जनु घन महँ दामिनी परगसी ॥ अप्रस्तुत
सुरुज किरन जस गगन बिसेखी।
जमुना माँझ सरसुती देखी ॥

इस स्थल पर कवि ने उपमा और उत्प्रेक्षालंकारों के प्रयोग द्वारा अप्रस्तुत योजना कर प्रस्तुत की अत्यन्त प्रभावकारी व्यंजना करायी है। इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना पूरे पद्मावत के लिए सामान्य बात है। इसके उत्प्रेक्षा के प्रयोग तो और भी विशिष्ट हैं।

(ख) प्रस्तुत के वर्णन के साथ ही अप्रस्तुत की व्यंजना—

पद्मावत में ऐसे अनेकों स्थल आये हैं—जहाँ कवि प्रस्तुत वर्णन के माध्यम से अप्रस्तुत की भी व्यंजना कराता चलता है। ऐसे स्थलों पर वह समासोक्ति अलंकार का सहारा लेता है। उदाहरण के लिए सिंहलद्वीप-वर्णन लिया जा सकता है। यहाँ अवि एक ओर तो सिंहलगढ़ का वर्णन करता है, परन्तु साथ ही इससे एक रहस्यवादी अर्थ की भी व्यंजना होती चलती है। इस रहस्यवादी व्यंजना के आधार पर सिंहलगढ़ का वर्णन योगियों की परमभूमि कैलास का भी सांकेतिक वर्णन प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार पद्मावती के रूप वर्णन में, उस अदृश्य परमज्योति (ब्रह्म) का भी सांकेतिक द्योतन होता है। रत्नसेन और पद्मावती का मिलन, इसी आधार पर आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है। यहाँ तक कि कवि तो सारी कथा को ही प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत की व्यंजना के रूप में ग्रहण करता है। पद्मावत का सारा रहस्यवाद इसी अभिव्यंजना शैली पर आधारित है। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यदि पद्मावत को समासोक्ति काव्य की संज्ञा दी जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। कुछ विद्वानों ने पद्मावत के ऐसे स्थलों को 'अन्योक्ति' से संबद्ध

बताकर पूरे काव्य को अन्योक्ति कहना चाहा है परन्तु अन्योक्ति में अप्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुत व्यंग्य रहता है। पद्मावत की कथा ऐसी नहीं है। यहाँ प्रस्तुत है, रत्नसेन और पद्मावती की कथा और इससे अप्रस्तुत (विविध साधनाओं के बाद आत्मा-परमात्मा का मिलन) व्यंजित होता है। अतः पद्मावत को समासोक्ति काव्य मानना ही अधिक उपयुक्त है। प्रस्तुत में अप्रस्तुत व्यंजना कराने के लिए कवि ने लगभग सभी काव्य प्रसिद्ध अलंकारों, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि का सहारा लिया है। एक बात यहाँ स्पष्ट कर देने की है—जायसी ने अलंकारों का प्रयोग जान-बूझकर कम ही किया है। उनके काव्य में अलंकार स्वयं ही उनके भावों के अनुचर होकर आये हैं।

(ग) अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति पूर्ण शैली का प्रयोग—

पद्मावत का कवि अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति के प्रयोग का बहुत बड़ा पक्षपाती है। पद्मावत के लगभग सभी वर्णनात्मक स्थलों पर इस अलंकार का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। जिस वस्तु या विषय का वर्णन कवि करता है, उसके सभी पक्षों एवं गुणों को अत्युक्ति की चरम सीमा पर पहुँचा देता है। जायसी का अत्युक्ति प्रयोग तो इतना आगे बढ़ गया है कि उससे रहस्यवाद की झलक मिलने लगती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरों संसारा॥
गगन नखत जस जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ देहिं सब साखी॥

इस स्थल पर, बरौनियों के वर्णन में कवि अत्युक्ति की सीमा पार कर गया है, उसका यह सीमातिक्रमण ही आलोचकों को रहस्यवाद की झलक देने लगता है। इतना तो निश्चित है कि कवि प्रत्येक स्थान पर रहस्यवाद के ही वर्णन में दत्तचित्त नहीं है, फिर भी उसके लगभग सभी वर्णन अत्युक्ति की सीमा पार करते ही रहस्यवादी से लगने लग जाते हैं। काव्यों में इस प्रकार का अत्युक्ति प्रयोग तथा एक ही वस्तु के लिए अनेकों विशेषणों की भरमार, संस्कृत साहित्य की निजी विशेषता है। उदाहरण के लिए बाणभट्ट की कादम्बरी को लिया जा

सकता है। अतः अत्युक्ति या अतिशयोक्ति प्रयोग में जायसी संस्कृत के ही कवियों का अनुकरण करते हैं। यह बात अलग है कि सूफी सन्त होने के कारण, उनके इस प्रकार के प्रयोग रहस्यवादी स्थल घोषित कर दिये गये।

(घ) श्लेष के प्रयोग के माध्यम से स्थूल अर्थों का द्योतन करने के साथ ही आध्यात्मिक अभिप्रायों का सन्निवेश—

पद्मावत में स्थूल कथा को अभिव्यक्ति देने वाले शब्दों के श्लिष्ट प्रयोग द्वारा आध्यात्मिक वस्तुओं की ओर संकेत, एक सामान्य सी बात है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पवन स्रवन राजा के लागा। लरहि दुऔ पदुमावति नागा ॥
दूऔ सम साँवरि औ गोरी। मरहिं त कहँ पावसि असि जोरी ॥
चलि राजा आना तेहि बारी। जरत बुझाई दूनौ नारी ॥

सामान्य अर्थ—उड़ती हुई हवा राजा के कान तक पहुँची कि पद्मावती और नागमती दोनों लड़ रही हैं। राजा ने सोचा—साँवरी और गोरी दोनों समान हैं। वे मर गईं तो ऐसी जोड़ी कहाँ मिलेगी। राजा चलकर उस वाटिका में आया और क्रोध से जलती हुई दोनों बालाओं को समझाया।

श्लेष से योगपरक अर्थ—प्राण (पवन) ने आत्मा (राजा) के कान में कहा—षट्चक्रों की शक्ति (पद्मिनी) और कुंडलिनी (नागमती) दोनों लड़ रही हैं। इनमें एक (पिंगला) साँवरी है और दूसरी (इड़ा) गोरी है। यदि दोनो में से एक भी निष्प्राण हो गयी तो फिर यह जोड़ी कहाँ मिलेगी। दोनों को समान पद देना ही उपयुक्त है। ऐसे प्रयोग पद्मावत में अति सामान्य हैं।

(च) बिना उपमेय के उल्लेख के सुपरिचित उपमानों के साथ स्थिति विशेष का चित्रण—

पद्मावत में अनेकों स्थलों पर कवि उपमेय का उल्लेख किये बिना ही उपमानों के सहारे विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता चलता है। रत्नसेन और पद्मावती को वह क्रमशः सूर्य और चन्द्र कहकर चित्रण प्रस्तुत करता है, इसी प्रकार पद्मावती की सखियों के लिए तारागण (उपमान) उपमेय के रूप में व्यवहृत है—एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

भएउ बिहान उठा रवि साईं । ससि पहँ आईं नखत तराईं ॥
सब निसि सेज मिले ससि सूरू । हार चीर बलया भे चूरू ॥

(छ) तथ्य-कथन की वक्रगामी पद्धति—

किसी तथ्य को स्पष्ट करते समय जायसी उसे सीधे न कह कर, किसी अन्य कथन द्वारा व्यंजित करते हैं, जैसे—यदि उन्हें यह कहना है सिंहल गढ़ बहुत ऊँचा तो वे इसे इस प्रकार कहते हैं—

तरह कुरुम वासुकी कै पीठी । ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी ॥
परा खोह चहुँदिसि तस बाँका । काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका ॥

वस्तु या तथ्य कथन की यह भंगिमा पद्मावत में सर्वत्र मिल जाती है।

(ज) लोकोक्तियों या मुहावरों का सुन्दर प्रयोग—

पद्मावत लोक-जीवन की अनुभूतियों से मंडित काव्य है। लोकजीवन की यह सदैव से विशेषता रही है कि वहाँ कथनों के बीच प्रसिद्ध उक्तियों, मुहावरों आदि का प्रयोग, दृष्टान्तों के रूप में होता आया है। पद्मावत इस दृष्टि से एक सम्पन्न काव्य-ग्रन्थ है। इसमें पग-पग पर लोकोक्तियों और सूक्तियों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत पूरे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। इसकी लोकोक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक एवं कथन के सत्य को उद्घाटित करने वाली हैं। एक उदाहरण देखने योग्य है—नागमती ने क्रुद्ध होकर हीरामन को मरवा डालने की आज्ञा दे दी। लौटकर रत्नसेन इस पर बहुत क्रुद्ध हुआ, नागमती भी पछताने लगी। इस पर उसकी दासी कहती है—

'रिस आपुहि बुधि औरहि खाई ॥

इसी प्रकार प्रत्येक उपदेशात्मक कथन में वे लोकोक्तियों व सूक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग करते दिखायी पड़ते हैं। यदि पद्मावत की लोकोक्तियों का संग्रह किया जाये तो इसका एक पूरा कोष ही बन सकता है। इसकी कुछ सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) "साहस जहाँ तहाँ सिधि होई।"
(२) "उलू न जान देवस कर भाऊ।"

(३) "कोउ बिन पूछे बोल जो बोला।
होइ बोल माटी के मोला॥"
(४) "विष राखे नहिं होइ अँगूरू।"
(५) "केला केलि करै का जौं भा बैरिपरोस।"
(६) "धन सो रहै, जस कीरति जासू।"
(७) "मारि न जेइ चहै जेइ स्वामी।"

ऐसी कितनी ही प्रचलित सूक्तियाँ पद्मावत में स्थल-स्थल पर बिखरी पड़ी हैं।

(२) वस्तु वर्णन—

पद्मावत एक श्रेष्ट महाकाव्य है। प्रारम्भ से ही प्रबन्धकाव्यों में वस्तुवर्णन को महत्ता दी जाती रही है। पद्मावत में उल्लसित वर्णनों की भरमार है। कुछ स्थलों पर तो कवि की वर्णनात्मकता की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गयी है कि उसका काव्य-सौन्दर्य ही जाता रहा है। ऐसे वर्णनों में प्रायः कवि वस्तुओं की नाम परिगणना में उलझ जाता रहा है। यहाँ उसका उद्देश्य मात्र ज्ञान प्रदर्शन रहता है। ऐसे वर्णनों में सिंहलद्वीप वर्णन, सिंहलद्वीप यात्रा-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, बादशाह भोजवर्णन, आदि को लिया जा सकता है। इन वर्णनों में प्रायः निरर्थक नाम परिगणना को ही महत्व दिया गया है। युद्ध-वर्णन और बादशाह भोज-वर्णन में तो कवि की वर्णनात्मकता सीमा पार कर गयी है।

अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों में कुछ वर्णन ऐसे भी हैं जिसमें उच्चकोटि की काव्यात्मकता का दर्शन होता है, जैसे जलक्रीडावर्णन, षड्ऋतु तथा बारहमासा वर्णन आदि। पद्मावती का नख-शिख वर्णन भी इस दृष्टि से विशिष्ट है। डा० रामचन्द्र तिवारी जायसी के वस्तु-वर्णन को लक्ष्य कर लिखते हैं—"यह सत्य है कि जायसी का वस्तु-वर्णन वस्तु-परिगणन पद्धति के अनुसार हुआ है किन्तु उसमें निहित उल्लास, सटीक अप्रस्तुत विधान के आधार पर अलंकृत चित्रों की योजना, स्थल-स्थल पर आने वाली समासोक्तियाँ और अनेक स्थलों

पर कल्पना वैभव प्रसूत बिम्ब तथा प्रायः वर्ण्यवस्तु के अनुकूल प्रस्तुत होने वाली पृष्ठि-भूमि पूरे वर्णन को रमणीय बना देती है। इसीलिए यात्रा-वर्णन, समुद्र वर्णन, और बादशाह भोज-वर्णन को छोड़कर, शेष सभी वर्णन कवि की वस्तु वर्णन क्षमता एवं कलात्मकता के प्रमाण हैं।" यदि सच पूछा जाये त‍ वर्णनात्मकता ही पद्मावत का मूल आधार है। छोटी सी कथा को, कवि इतन विस्तृत कलेवर अपने वर्णनों के ही आधार पर दे सका है। वस्तुवर्णन की यह परिपाटी संस्कृत कथा-काव्यों और महाकाव्यों की विशिष्ट वस्तु है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जायसी का वस्तुवर्णन जहाँ एक ओर उबा देने वाला है, वहीं दूसरी ओर अभूतपूर्व भव्यता से भी युक्त है। इनके द्वारा वर्णनों के बीच की गयी काव्यात्मक बिम्बयोजना तो अत्यन्त सराहनीय है। काव्यात्मक बिम्बों के प्रयोग की दृष्टि से जायसी समस्त हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं।

(३) प्रकृति-चित्रण—

पद्मावत में प्रकृति के कोमल एवं कठोर दोनों ही रूपों का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ प्रकृति को कहीं आलम्बन रूप में, कहीं उद्दीपन रूप में, कहीं उपमान रूप में तो कहीं प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है। प्रकृति चित्रण के माध्यम से कवि अपनी रहस्यवादी भावनाओं के अंकन में भी अत्यन्त सफल रहा है। प्रकृति चित्रण के सभी प्रकारों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(१) **आलम्बन रूप में**—आनम्बन या स्वतंत्र रूप में प्रकृति का चित्रण जायसी ने सात समुद्रों के वर्णन में किया है। यहाँ आया हुआ वर्णन प्रकृति के कठोर रूप का भी आभास देता है। जायसी के इस वर्णन में समुद्रों की भयानकता साकार हो उठी है। किलकिला समुद्र का वर्णन द्रष्टव्य है—

पुनि किलकिला समुंद महँ आए। किलकिल उठा देखि डरु खाए।
गा धीरज वह देखि हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा।
उठै लहरि परबत की नाईं। होइ फिरै जोजन लख ताईं।
धरती लेत सरग लहि बादा। सकल समुंद जानहुँ भा ठाढ़ा।

नीर होइ तर ऊपर सोई । महनारंभ समुँद जस होई ।
फिरत समुद जोजन लख ताका । जैसे फिरै कुम्हार क चाका ।
भा परलौ नियराएन्हि जबहीं । मरै सो ताकर परलौ तबहीं ।
गै अवसान सबहिं कै, देखि समुद कै बाढ़ि ।
निअर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि ।।

(२) **उद्दीपन रूप में**—जायसी ने उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्र संयोग और वियोग की स्थितियों के चित्रण में क्रमशः 'षड्ऋतु वर्णन' और 'बारह-मासा-वर्णन' के रूप में किया । इसका विस्तृत विवेचन 'शृंगारवर्णन' के सन्दर्भ में किया जा चुका है । इसके अन्तर्गत प्रकृति मानवीय भावनाओं के उद्दीपक तत्व के रूप में आती है । उसकी संयोग स्थिति में वह प्रफुल्लित एवं आनन्द बिखेरती दिखायी गयी है । परन्तु वही वियोग की स्थिति में दाहक बन गयी है । षड्ऋतु-वर्णन में प्रकृति की संयोगकालीन प्रफुल्लता वर्णित है और बारह-मासा वर्णन में उसकी वियोगकालीन दाहिका प्रवृत्ति का वर्णन हुआ है ।

(३) **उपमान रूप में**—सौन्दर्य-चित्रण के स्थलों पर जायसी ने प्रकृति के उपादानों का उपमान रूप में प्रायः व्यवहार किया है । पद्मावती के सौन्दर्य चित्रण से संबंधित एक स्थल द्रष्टव्य है—

भँवर केस वह मालति रानी । बिसहर लुरहिं लेहिं अरगानी ।
बेनी छोरि झारु जौं बारा । सरग पतार होइ अँधियारा ।।

इस प्रकार पद्मिनी के एक-एक अंग की उपमा देने के लिए कवि अनेकों प्रकृति के उपादानों का उपामान रूप में व्यवहार करता है । यहाँ तक कि 'प्रेम' जैसी सूक्ष्मवृत्ति के चित्रण में भी वह प्रकृति के क्रियाकलापों को सादृश्य रूप में प्रस्तुत करता है—जैसे—

फूल-फूल फिर पूछौं, जो पहुँचौं ओहि केत ।
तन न्योछार कै मिलौं, ज्यों मधुकर जिव देत ।।
हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु ।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु ।।

एक प्रेमी के लिए 'मधुकर' और 'पक्षी' का रूपक भावनाओं के उत्कर्ष में गहरा योग देता है।

(४) प्रतीक रूप में—आध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में प्रकृति के उपादानों का चित्रण पद्मावत के लिए अतिसाधारण वस्तु है। जायसी का 'सूर्य-चन्द्र' प्रतीक तो पूरी कथा में व्याप्त है। इसी प्रकार साधना की विविध एवं कठिन स्थितियों के प्रतीक सात समुद्रों का वर्णन तथा अन्यानेक प्राकृतिक उपादानों की आयोजना, अति सामान्य है। इन्हीं प्रतीकात्मक वर्णनों के माध्यम से कवि रहस्यात्मक भावों की व्यंजना भी कराता चलता है। इस प्रकार पद्मावत में प्रकृति को प्रतीक तथा रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति के उपादान, दोनों ही रूपों में ग्रहण किया गया है।

अस्तु ! यह कहा जा सकता है कि पद्मावत का प्रकृति चित्रण नानारूपात्मक होने के साथ ही अतीव प्रभावकारी भी है। जायसी की प्रकृति मानव-भावनाओं की अनुचरी है। इसी के अनुरूप समय-समय पर उसका रूप परिवर्तित होता रहता है। कहीं वह अपने भयानक रूप में उपस्थित होती है तो कहीं अत्यन्त मृदु एवं प्रफुल्लित रूप में और कहीं दुःख-दायिनी बनकर। पग-पग पर वह कथागत मनः स्थितियों के आधार पर चित्रित की गयी है।

पद्मावत की भाषा—

पद्मावत की भाषा बोल-चाल की पूर्वी अवधी है। इसमें उस समय बोली जाने वाली ग्रामीण अवधी का शुद्ध रूप सुरक्षित है। हिन्दी के अन्य काव्य-ग्रन्थों की भाँति, पद्मावत की भाषा में प्रक्षेप या परिवर्तन बहुत कम हुए हैं, इसका एक मात्र कारण यह है कि पद्मावत अपने मूलरूप में फारसी लिपि में लिखी गयी थी, फलतः यह पंडितों की दृष्टि से बची रही। आधुनिक युग में इसका भाषानुवाद हुआ, अतः इसकी भाषा का मूल रूप बिना किसी परिवर्तन के सुरक्षित रहा। पद्मावत की कुछ भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

(१) पद्मावत की भाषा में तिङन्त रूपों की प्रधानता है। ब्रज और खड़ी बोली की भाँति कृदन्ती रूपों का बोल-बाला नहीं है। कृदन्त क्रियाओं में क्रिया

का प्रयोग लिंग, वचन और कर्म के अनुसार होता है, परन्तु तिङन्त क्रियाओं में क्रिया का प्रयोग लिंग और वचन तथा कर्ता के अनुसार होता है। एक उदाहरण देकर इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है—ब्रज और खड़ी बोली में—'हम देखी वह सखी सरेखो' लिखा जायेगा इसे ही यदि पूर्वी-अवधी में लिखें तो—'औ हम देखा सखी सरेखा'-होगा।

(२) पूर्वी अवधी में खड़ीबोली के 'ने' परसर्ग के स्थान पर 'ऐ' प्रत्यय का व्यवहार होता है जैसे राजै (राजा ने), सूऐ (सुआ ने) आदि। परन्तु यही 'ऐ' जब किसी क्रिया के साथ लगकर आयेगा तो वह क्रिया के हेत्वर्थ रूप का निष्पादन करेगा। जैसे पढ़ै=पढ़ने के लिए।

(३) खड़ी बोली तथा ब्रज के 'आकारान्त पद' पूर्वी अवधी में अकारान्त हो जाते हैं जैसे बड़ा-बड़ तथा ओकारान्त भी अकारान्त ही रह जाते हैं जैसे गहिरो-गहिर।

(४) भविष्यकाल की क्रियाओं के अन्त में 'ब' प्रत्यय लगता है। जैसे, पूछब पैठब आदि।

(५) सम्बन्ध कारक 'का' के स्थान पर 'कै' या 'कर' का प्रयोग होता है।

(६) पद्मावत की भाषा में प्राकृत के अनेकों शब्द ज्यों के त्यों व्यवहृत हुए हैं। बोल-चाल की भाषा का व्यवहार होने के कारण ही कवि इन्हें, इनके प्रचलित रूप में व्यवहृत करता देखा जाता है।

(७) जायसी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार बहुत कम किया है जो शब्द व्यवहृत भी हैं, वे विकृत रूप में हैं—जैसे कूर्म का कुरुम, अध्युष्ठ का अहुठ, दंडाकारण्य का दंडकारन आदि।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जायसी ने तत्कालीन लोकप्रचलित पूर्वी अवधी का ही व्यवहार पूरे ग्रन्थ में किया है।

भाषा-सौन्दर्य—

पद्मावत की भाषा अत्यन्त सरस, मधुर एवं कोमल कान्त पदावली से युक्त है। भावानुकूल वर्णन एवं शब्द योजना, मृदु मंजुल ध्वन्यात्मक वाक्य विन्यास, व्यंजनापूर्ण पदयोजना लोकोक्तियों एवं मुहावरों का सहज विन्यास पद्मावत की

भाषागत अन्य विशेषताएँ हैं। इसमें प्रयुक्त ग्रामीण अवधी की मीठास का तो कहना ही क्या। पूरा का पूरा काव्य शब्दों के माध्यम से तत्कालीन लोक-जीवन को रूपायित कर देने में अत्यन्त सक्षम है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि पद्मावत की भाषा प्रक्षेपों से रहित होकर अपने विशुद्ध रूप में प्राप्त होती है। हिन्दी साहित्य के शायद ही किसी ग्रन्थ की भाषा अपने मूल रूप में सुरक्षित रह सकी हो।

छन्द योजना--

जायसी की छन्द-योजना भी अत्यन्त ललित एवं मधुर है। पूरे ग्रन्थ में दोहा और चौपाई दो ही छन्दों का व्यवहार हुआ है। सात चौपाइयों के बाद एक दोहा रखकर एक पूर्ण छन्द का निर्माण किया गया है। कुछ विद्वानों ने इस पर फारसी की मसनवी शैली की छाप देखने का प्रयास किया है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस तरह का छन्द-विन्यास अपभ्रंश काव्यों में प्रायः मिलता है। अपभ्रंश की 'कडवक' बद्ध शैली ही, जायसी की दोहा-चौपाई शैली है। अपभ्रंश काव्यों में गाहा, रड्डा आदि छन्दों के बाद एक 'घत्ता' (जो दोहे का प्रतिरूप था) रखकर छन्द निर्माण की पद्धति प्रचलित थी। इसे ही 'कडवक' बद्ध शैली कहा गया है। जायसी ने इस शैली का अनुगमन किया है।

जायसी की छन्द योजना शास्त्रीय दृष्टि से सफल नहीं कही जा सकती क्योंकि छन्दों में पग-पग पर यति भंग तथा गति भंग दोष लक्षित किये जा सकते हैं। परन्तु शास्त्रीयता की दृष्टि से इन छन्दों को देखना इनके भावों के प्रति अन्याय करना होगा। जायसी एक लोक कवि है, बीहड़पन और अपरिष्कृतता ही लोक जीवन का सौन्दर्य है। यदि यह जायसी के छन्दों में भी मिलती है तो इससे कवि के कवित्व की हानि नहीं होती और आचार्य होने का दावा तो कवि स्वयं ही नहीं करता। वह तो लोक-जीवन का सच्चा कवि है।

—:०:—

१७

कबीर और जायसी

कबीर और जायीसी मध्य कालीन साहित्याकाश के दो अत्यंत प्रकाशमान नक्षत्र हैं। धर्मान्धिता के अन्धकार में भटकते हुए मध्यकालीन समाज को इन दोनों साधक कवियों ने अपने ज्ञान का प्रकाश दिखाकर सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। इन दोनों महान् कवियों एवं साधकों में व्यक्तित्वगत भिन्नताएँ भी हैं, दोनों के मार्ग भी अलग हैं, पर गन्तव्य दोनों ही का एक है। मानवमात्र का कल्याण ही दोनों का साध्य है। धर्मान्धिता की भावना दोनों की शत्रु है। मनुष्य-मात्र एवं ईश्वर की एकता ही दोनों की विचारधारा की दृढ़ आधार शिला है। दोनों माहान् साधकों की साधना-पद्धतियों का विस्तृत विवेचन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। यहाँ दोनों में परस्पर समानताओं और असमानताओं की विवेचना ही अभीष्ट है।

समानताएँ—

कबीर और जायसी दोनों ही सामासिक संस्कृति के समर्थक हैं—

कबीर और जायसी इतिहास के उस युग में हुए थे जब मनुष्य-मनुष्य के बीच धर्म दीवार बनकर आ खड़ा हुआ था। धर्म के नशे में धुत्त मानव-मन अपना ही अनिष्ट करने लग गया था। कोई हिन्दू था कोई मुसलमान। व्यक्ति, मानव द्वारा निर्मित धर्म के कृत्रिम घेरे में बन्द होकर वास्तविकता को भुला बैठा था। उसे यह ज्ञान ही न रह गया था कि मानवमात्र एक ही ईश्वर की रचना है। धार्मिक भेद बुद्धि के आश्रित तत्कलीन मानवमन उन्मत्त का सा आचरण कर रहा था। कबीर और जायसी जैसे सन्त साधकों ने अपनी अमृतोपम वाणी द्वारा तत्कालीन व्यक्ति के धार्मिक उन्माद को दूर करने का प्रयास

किया। इन दोनों साधकों ने धर्म के मर्म को अस्पष्ट करने का प्रयास किया। दोनों ही ने धर्म को व्यक्तिगत साधना की वस्तु बनाकर,अमृत के समान जीवन दायक सिद्ध किया। धर्म की बाह्य मान्यताओं से दूर, दोनों ने दो बिरोधी धर्मों की समानताओं का प्रसार किया। कबीर ने धर्म के मर्म को समझने के लिए ज्ञान प्राप्ति एवं अहं भावना से ऊपर उठने की बात की और जायसी ने ईश्वरीय प्रेम के निर्मलजल में, भेद रूपी कीचड़ को धो डालने की सलाह दी। दोनों ने अखिल सृष्टि को एक ही कर्त्ता की कृति मान आपसी भेद भाव को मिटा डालने की भावना का प्रसार किया। इनकी स्थापना है कि व्यक्ति द्वारा निर्मित कृत्रिम धर्म के परे मानवमात्र का हित-चिन्तन ही सबसे बड़ा धर्म है। यही सभी धर्मों का मूल है। इतना समझ लेने पर धार्मिक भेद बुद्धि स्वतः समाप्त हो जाती है, और सारी सृष्टि एकता के सूत्र में पिरोयी हुई दिखाई पड़ती है। संक्षेप में कबीर और जायसी दोनों ही अमर साधकों ने किसी धर्म विशेष या संस्कृति विशेषका गुणगान न कर विश्वव्यापी धर्म व संस्कृति के प्रसार का प्रयास किया।

कबीर और जायसी की साधनापद्धतियों में भी पर्याप्त साम्य है—

जिस प्रकार कबीर ने ईश्वर को निर्गुण एवं निराकार मान उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान और प्रेम को माना, उसी प्रकार जायसी ने भी ईश्वर को अलख, अरूप एवं कण-कणव्यापी मान उसकी प्राप्ति के अभाव में अपने विरहपूर्ण उद्‌गारों की अभिव्यक्ति की। जैसे कबीर के राम घट-घट वासी हैं, वैसे ही जायसी की परमज्योति भी विश्व के कण-कण को अपने प्रभाव में ग्रस्त किये हुए है। साधना के क्षेत्र में दोनों ही भक्त साधकों ने भारतीय हठयोग सिद्धान्त का अनुसरण किया है। दोनों पर भारतीय अद्वैतवेदान्त एवं इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव है। ईश्वर की आच्छादक शक्ति माया को मलिन मान दोनों ही ने उससे बचे रहने की बात कही है। व्यक्तिगत साधना में दोनों ही का अटूट विश्वास है। इसके अतिरिक्त गुरु की महत्ता, मन की पवित्रता एवं निश्छलता तथा ईश्वर के प्रति अटूट प्रेम आदि बातें भी दोनों में समान रूप से मिलती हैं।

कबीर और जायसी दोनों ही की साधना-पद्धति रहस्यवाद के स्तर तक पहुँची हुई है। वे 'अव्यक्तसत्ता' रूपी ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही अपने प्रेम गद्‌गद भावों की अभिव्यक्ति करते देखे जाते हैं। कबीर परमात्मा को प्रियतम मान स्वयं अपनी आत्मा को उसकी प्रिया रूप में कल्पित कर उसके संयोग और वियोग दुःख का आनन्द प्राप्त करते हैं। प्रियतम के वियोग में उनकी विरहिणी आत्मा छटपटाती है, पर उससे मिलन होते ही आनन्द विभोर हो उठती है। इसी प्रकार जायसी ने भी अव्यक्त सत्ता के प्रति अपने प्रेम गद्‌गद भावों की

अभिव्यक्ति की है। वे परमात्मा की कल्पना प्रिया रूप में कर अपनी आत्मा को साधक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ कबीर और जायसी की मान्यताओं में भेद सा प्रतीत होता है पर यह भेद बाहरी है, दोनों कवियों की प्रेम करने की रीति लगभग एक सी है, दोनों की विरह और मिलन की अनुभूतियाँ भी समान स्तर पर चित्रित हैं। भावनात्मक स्तर पर परमात्मा के प्रति आत्मा का पूर्ण समर्पण ही दोनों का अभीष्ट है।

असमानताएँ—

कबीर और जायसी में जहाँ कुछ समानताएँ हैं, वहाँ पर्याप्त असमानताएँ भी हैं। परन्तु इन असमानताओं के केन्द्र में उनकी व्यक्तिगत भिन्नता और सैद्धान्तिक मान्यताएँ कारणभूत हैं। इन्हीं आधारों पर दोनों अलग-अलग मार्गों का अनुसरण करते हैं, पर गन्तव्य दोनों ही का एक है। इनकी कुछ असमानताओं का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जा रहा है। कबीर और जायसी के व्यक्तित्व में पर्याप्त अन्तर है—

कबीर का व्यक्तित्व अत्यंत सशक्त एवं अक्खड़ता से युक्त है। अक्षर ज्ञान से रहित उनके विलक्षण व्यक्तित्व में सब कुछ तोड़ डालने की शक्ति है। समाज की या धर्म की कोई भी बुराई देखकर वे कड़े शब्दों में उसकी निन्दा करते हैं। परम्पराओं का खण्डन करना तो उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा है। इसके ठीक विपरीत जायसी अत्यंत सरल स्वभाव के मिष्टभाषी एवं सुशिक्षित कवि हैं। गाली देने वालों को भी वे हँस कर उत्तर देते हैं। सारी सृष्टि को परमात्मा के प्रभाव से ग्रस्त जान वे सभी से प्रेम करना चाहते हैं। उन्हें किसी से द्वेष तो है ही नहीं। कबीर की भाँति अक्खड़पना और सब कुछ तोड़ डालने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। किसी वस्तु के तोड़ने में विश्वास न कर वे उसके निर्माण में विश्वास करते हैं। कबीर की भाँति धार्मिक पाखण्डों की बुराई न कर वे केवल स्वस्थ धर्म की बात करते हैं। उनकी धार्मिक मान्यता किसी ध्वंस पर निर्मित न होकर उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं की दृढ़ नींव पर टिकी हुई है, संक्षेप में कबीर और जायसी व्यक्तित्व की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हैं।

कबीर पूर्णरूपेण भारतीय कवि हैं, जबकि जायसी पर विदेशी धर्म इस्लाम का सतही प्रभाव है—

कबीर की धार्मिक मान्यताएँ भारतीय परम्परा में प्रचलित बौद्ध सिद्धों, नाथयोगियों की मान्यताओं एवं अद्वैत वेदान्त की ज्ञान-साधना से उद्भूत हैं। जायसी इस्लाम मतानुयायी 'सूफी' सन्त हैं। फलतः भारतीय चिन्तन धाराओं के प्रभाव के अतिरिक्त उनपर सूफी मान्यताओं का भी सतही प्रभाव है। परन्तु यही सतही प्रभाव उन्हें महत्वपूर्ण बना देता है। कबीर द्वारा किया

गया धार्मिक सुधार का प्रयास एक सीमित दायरे में ही बँधा हुआ है। वे धर्म और समाज के सुधार में तो सफल हुए, पर सांस्कृतिक समन्वय का प्रयास वे न कर सके। यह महान कार्य जायसी के हाथों सम्पन्न हुआ। जायसी ने भारतीय हिन्दू परिवारों में प्रचलित सुपरिचित कथाओं और इस्लाम की साधना पद्धतियों का मणि-कांचन योग प्रस्तुत किया। उन्होंने दोनों जातियों के मन को जोड़ने का प्रयास किया और इसमें सफल भी हुए। इस क्षेत्र में जायसी कबीर से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। कबीर ने डाट-फटकार कर दोनों धर्मावलम्बियों को एक राह पर ला तो दिया था, पर उनके मन अलग ही थे। जायसी ने दोनों के मन को जोड़कर सांस्कृतिक एकता का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

निष्कर्ष—

ऊपर कबीर और जायसी की कुछ समानताओं और असमानताओं का उल्लेख किया गया। ये समानताएँ और असमानताएँ भी बहुत कुछ आरोपित ही कही जा सकती हैं। वास्तव में जायसी कबीर के पूरक कवि कहे जा सकते हैं। कबीर ने अपने सशक्त व्यक्तित्व के बल पर धार्मिक एवं सामाजिक ढोंगों पर करारा आघात कर उन्हें धराशायी कर दिया। उनके इसी ध्वंस पर जायसी ने मानवता का भव्य प्रासाद निर्मित किया। इस रूप में जायसी, कबीर के पूरक कहे जा सकते हैं। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम एकता का जो प्रयास किया गया उसमें दोनों ही कवियों का समान योग है। कबीर ने सामासिक संस्कृति का वाह्य आकार निर्मित कर दिया था। जायसी ने इस ढाँचे में प्राण प्रतिष्ठा कर दी। कबीर ने अपने ढंग से हिन्दू और मुसलमानों को एक स्थान पर लाकर बैठा दिया था, उनके हृदय अभी भी कोसों दूर थे, जायसी ने दोनों के हृदयों को भी जोड़ दिया। इस प्रकार मध्यकाल में भारतीय सामासिक संस्कृति का जो विशाल-भवन निर्मित हुआ, कबीर और जायसी उसके दो दृढ़ स्तम्भ थे।

कबीर और जायसी दोनों ही सामान्य जनजीवन के कवि हैं। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। जनता के बीच बैठकर मन के सच्चे उद्गारों को व्यक्त कर देना ही उनका स्वभाव था, वे एक व्यावहारिक व्यक्ति थे। कविता करना उनका लक्ष्य ही नहीं था। जीवन भर सत्य कथन ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा। इसी तरह जायसी भी जनता के कवि थे। भलीभाँति शिक्षित होने पर भी वे जनता की भाषा में ही अपने उद्गार व्यक्त करते हैं। लोकजीवन से उन्हें अत्यधिक लगाव था। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर और जायसी दोनों ही सच्चे मानवतावादी कवि हैं।